UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178996
UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H83.1/Y29Y Accession No. G.H.1660

Author यशपाल

Title ... दुनिया | 1945

This book should be returned on or before the date last marked below.

विप्लव पुस्तक माला—६

वो दुनियां

यशपाल

(दूसरा संस्करण)

प्रकाशक
विप्लव कार्यालय, लखनऊ.

नवम्बर १९४५] मूल्य १॥)

प्रकाशक—
विप्लव कार्यालय, लखनऊ.

सर्वाधिकार सुरक्षित
(अनुवाद सहित)

मुद्रक—
प्रकाशवती पाल
साथी प्रिंटिंग प्रेस. लखनऊ.

....

इस दुनियां की परिस्थितियाँ जीवन की राह बद किये हैं।
जीवन का उच्छ्वास कराह उठता है।
इसी कराहट को कला में लपेट कर—
दर्द भरे संगीत का रूप देना चाहते हैं।
परिस्थितियों के भैरव विद्रोह में—
उस दुनिया की स्वर्णिम आशा में,
जहाँ हम मिलकर जी सकेंगे,
जहाँ हम मिलकर गा सकेंगे।
इस कुण्ठित, दरद भरे गान में स्वर मिलाने वाले,
हमारी उस दुनिया की यह सुखद चाह तुम्हें समर्पित है।

यशपाल

अनुक्रमणिका—

१.	संन्यासी	६
२;	दो मुँह की बात	२४
३.	बड़े दिन का उपहार	३२
४.	दूसरी नाक	४३
५.	मोटरवाली-कोयलेवाली	५५
६.	तूफ़ान का दैत्य	७२
७.	कुत्ते की पूँछ	७८
८.	शिक़ायत	९१
९.	गुडबाई-दर्ददिल	१०२
१०.	जहाँ हसद नहीं	११२
११.	नई दुनियां	१२३
१२.	वो दुनियां	१५३

वो दुनियां—

मनुष्य का जीवन है, मनुष्य का शरीर है और मनुष्य के अधिकारों का दावा है, इसलिये किसी के विधान में परवश होकर, पशु के गुण और धर्म कैसे स्वीकार किये जा सकते हैं ?

मनुष्यत्व की प्राणशक्ति जीवन की इच्छा और अपूर्ण साध के रूप में उठ खड़ी होती है। अनेक रूप धारण करती हुई हमारी यह प्रवृत्ति ही हमारा जीवन और प्राण है।

प्राणों की पुष्टि और विकास ही सबसे बड़ा सुख है। परिवर्तित होता हुआ भी वह सुख चिरन्तन और शाश्वत है। इस सुख को अधिक सप्राण और सबल बनाने का प्रयत्न ही कला है। इसी उद्देश्य से सौन्दर्य की स्थापना, खोज और सृष्टि की जाती है।

कला के साधन से उसी-सौन्दर्य की सृष्टि और समृद्धि करना मनुष्य जीवन का उद्देश्य और क्रम है। अपनी इस शक्ति के बल से मनुष्य

नई से नई दुनिया की सृष्टि करता आया है। यह दुनिया मनुष्य की उसी कलामय शक्ति की देन है।

मनुष्य की कलामय शक्ति उसके लिये दुनिया बनाती है। उसकी निर्मित दुनिया कला के लिये अभिरुचि उत्पन्न करती है। सुख-सौन्दर्य और कला की पिपासा को तृप्त करने का प्रयत्न सुख-सौन्दर्य और कला की सृष्टि करने की शक्ति उत्पन्न करता रहता है।

एक दुनिया—सौन्दर्य-सुख और कला के एक आदर्श—का सम्पूर्ण सार चूसकर मनुष्य जब उसे फलगु बना देता है तब इस दुनिया का रस चूस कर संचय की हुई शक्ति उसे नई दुनिया बनाने के लिये विकल करने लगती है। सौन्दर्य और सुख की भूख को तृप्त करने के मनुष्य के प्रयत्न में सृजन की महान शक्ति अन्तर्निहित है।

जीवन का विकास हो जाने पर परिस्थितियाँ संकीर्ण हो जाती हैं; तब जीवन नई परिस्थितियों की सृष्टि करने के लिये तत्पर हो उठता है। यही उसकी कलामय शक्ति है।

इस दुनिया की संकीर्णता और असह्य परिस्थितियों के कारण विकल प्राण होकर भी मनुष्य इस स्वनिर्मित सृष्टि के प्रति विरोध और वैमनस्य क्या प्रकट करे? परन्तु उसकी कलामय शक्ति नवीन रचना और विकास का प्रयत्न तो करेगी ही।

और उस दुनिया की मधुर कल्पना में उसे शान्ति तो मिलेगी ही।

और 'वो दुनिया' जीवन के अवसर का आश्वासन दे उसे पुकारेगी ही।

कला के अनेक सुन्दर और सबल रूप हैं। उसका एक ढंग कल्पना

में दुनिया बना देना भी है, जिसे कहानी गढ़ना कहते हैं। अपने परिमित सामर्थ्य के कारण मैं वही करके सन्तोष पाना चाहता हूँ।

× × ×

'वो दुनिया' कैसी होगी····कैसी होनी चाहिये ? इस तर्क को ले जीवन की मधुर आशा को कड़वी क्यों करें ! उस दुनिया के संबंध में एक बात सर्व-सहमत हो सकती है····इस दुनिया का वैषम्य उस दुनिया में न होना चाहिये !

इन कहानियों में उस दुनिया का कोई स्पष्ट चित्र नहीं दिया जा सका। यत्न किया गया है, इस दुनिया के वैषम्य की ओर संकेत करने का ! इस दुनिया की अपेक्षा से ही उस दुनिया की चाह उठती है। इसीलिये दिल पुकार उठता है—"वो दुनिया !"

× × ×

इन कहानियों को प्रचार के दृष्टिकोण से नहीं लिखा गया। एक सीमा तक यह 'कला' का उद्‌गार है। परन्तु उद्‌गार भी परिस्थितियों से ही उत्पन्न होते हैं। जीवन की माँग की साँस उनमें भरी रहती है। इसलिये यदि समस्या की गन्ध इनमें आ जाय तो लाचारी है।

× × ×

धन्यवाद ! उन पाठकों को जिन्हें मेरा प्रयत्न भला मालूम होता है और धन्यवाद प्रकाशवती पाल को निरन्तर सहयोग के लिये।

३ दिसम्बर ४१
विप्लव, लखनऊ

यशपाल

एक

संन्यासी

जीवन के सबसे अधिक मधुर और मादक क्षण वे होते हैं जब आशा की मदिरा का नशा छाया रहता है। उस उत्साह में वर्तमान के प्रत्यक्ष होनेवाले कष्ट और न्यूनताएँ भी भूल जाती हैं। एम० एस-सी० की परीक्षा से पहले नरदेव शर्मा के ऐसे ही दिन थे।

भविष्य के जीवन चित्र उसके सामने स्पष्ट थे। सब प्रकार से योग्य बन जाने के बाद, आशा के संसार में, उसका जीवन-पथ राजमार्ग की भाँति प्रशस्त था। सुख सम्पदा के मनोरम वृक्ष उस पथ पर दोनों ओर से छाकर दुख-दारिद्र्य और क्लेश के आतप को रोके हुए थे। प्रणय का सुखद समीर, उन वृक्षों के चिकने पत्तों में से मर-मर कर पथिक को थपकियाँ देता हुआ बह जाता था—केवल अधिक सुखद, अधिक शीतल बनकर लौट आने के लिये। घने पत्तों से छनकर पथ पर फैली हुई सुनहली धूप की चित्रकारी, छिन्न मंजरियाँ और बिखरी हुई बौराई

विचित्र सुखद अनुभवों के समान थी। कोयल अपने स्वर को मधुर बनाकर अलस तंद्रा में शनैः कूक देती थी। कोयल की उस सांकेतिक वाणी से बहुत अधिक मधुर और अर्थपूर्ण एक दूसरा शब्द उसके कानों की राह प्रवेश कर हृदय में स्फुरण कर देता था। वह शब्द उतना ही मधुर था जितने सुन्दर ओंठों के स्पन्दन से वह उत्पन्न हुआ था। उस पथ पर चलता हुआ नरदेव जरा घूमकर अपने बाईं ओर देखता—लता की कोंपलसी सुकुमार, फूल की तरह सुवर्ण, उसके जीवन पथ की संगिनी प्रेरणा भरे आयत लोचनों से उसकी ओर देख रही है प्रेम के अधिकार से आश्रय मांगती हुई। उस युवती के आश्रय के लिये नरदेव की बाँह फैल जाती ......।

भविष्य जीवन के इस आशा-पथ पर नरदेव चला जा रहा था, जीवन की पूर्णता में भूला हुआ और तब, कल्पना की चरम सीमा पर पहुँच कर उसका ध्यान टूटा। सामने खुली हुई पुस्तक के जिन पन्नों पर कल्पना की दृष्टि से वह यह सब कुछ देख रहा था, वहाँ वास्तव में केवल फिज़िक्स के फार्मूले (सूत्र) छपे हुए थे। एक अँगड़ाई लेकर नरदेव ने घड़ी की ओर देखा, रात का डेढ़ बज गया था। काग़ज़ के एक टुकड़े पर पेन्सिल से उसने हिसाब लगाया। जितने पन्ने उसने दिन भर में दोहरा लिये थे उस हिसाब से प्रति दिन पढ़ते जाने से वह परीक्षा से पहले मज़े में पाठ्य-क्रम को दोहरा लेगा। एक और अँगड़ाई लेकर उसने पुस्तक बंद कर दी।

बिस्तर पर लेट, शरीर को सुखद ऊष्ण वस्त्र में लपेट, आँखों के पट मूँद उसने प्रत्यक्ष जगत से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया।

भविष्य के सुख की धारा में उसने अपनी कल्पना की नाव ढील दी। केवल परीक्षा की वैतरणी पार करना शेष था। चौदह परीक्षायें सफलता पूर्वक पास कर लेने के कारण एम० एस-सी० की परीक्षा में सफल होने का उसे पूर्ण आश्वासन था। इसके बाद जीवन की सफलताओं— कॉलेज की प्रोफ़ेसरी, बड़े बैंक की मैनेजरी, मैजिस्ट्रेटी, इन सबका अधिकारी वह हो जायगा। यह पद या स्थान ही तो जीवन का उद्देश्य नहीं। ये तो जीवन की पूर्णता और रक्षा का साधन मात्र हैं। जीवन का उद्देश्य फिर है क्या ?·······भव्य जीवन : कल्पना की वह तन्वांगी, जिसके शरीर का रेखा चित्र विलायती पोशाक के व्योपारियों के सूचीपत्र पर बना रहता है, भारतीय वेश के लावण्य और सादगी में लज्जा से सकुचाई हुई, उसकी बाँह पर निढाल··········। नरदेव का विद्याभ्यास और पुरुषार्थ, जीवन संघर्ष में अपने आपको बलवान और समर्थ बनाने का यत्न, सब उसी लक्ष को प्राप्त करने के लिये था। मानो स्वयम नरदेव उसी देवी की पूजा, रक्षा और उपभोग का साधन मात्र था। उसके बिना नरदेव का जीवन लक्ष्यहीन और निरावलम्ब था। वह चाहता था, केवल पूजा, रक्षा और सेवा के इस अधिकार को।

नरदेव की यह कामना और लक्ष नितान्त सूक्ष्म था। उसकी यह भावना शारीरिक नहीं मानसिक थी, बल्कि आध्यात्मिक। मस्तिष्क में सुख की स्फूर्ति से उसके स्नायु तन गये। रक्त का वेग बढ़ जाने से उसने अपने शरीर को पूरा फैलाकर शक्ति और सामर्थ्य के वेग को अनुभव किया। मन से उठे आल्हाद को फिर मन में ही समा देने के

लिये उसने स्वयम् अपना आलिंगन कर लिया और सुख की अनुभूति में डूब कर वह सो गया।

नरदेव के भविष्य जीवन के सुख और आशा का यह चित्र आधार रहित न था। एक बरस से कुछ पहले, सम्बन्ध के एक विवाह-समारोह में नरदेव ने शीला को देखा था। सम्मिलित कुमारी समुदाय में उससें अधिक रूपवती और शिक्षित, दसवीं श्रेणी में पढ़नेवाली, दूसरी कुमारी न थी और युवकों में नरदेव सबसे योग्य था। उसी समय उनके भावी सम्बन्ध का चर्चा चल पड़ा। इसके बाद अवसर मिलने पर नरदेव ने आँख उठाकर शीला की ओर देखा। कुमारी की आँखें लज्जा से झुक गईं। उसका लज्जा से यों सकुचा जाना, नरदेव के सीने में उतर गया। नरदेव को अपने भाग्य पर विश्वास था।

एम० एस-सी० पास करने के बाद बड़ी नौकरी न सही, साठ रुपया माहवार की एक नौकरी उसे मिल गई। उसके बाद चिर-प्रतीक्षित और चिरकमनीय, उसके स्वप्न और जागरण की आराध्य देवी, उसकी कल्पना की चरम महत्वाकांक्षा, शील और सौम्य की सुन्दर मूर्ति उसके घर आ गई। सुहागरात में रात भर जागकर जब नरदेव ने शीला को प्रथम परस्पर दर्शन की घटना याद दिलाई और उसके प्रति अपनी चिर-स्नेह तपस्या का रहस्योद्घाटन किया, आनन्द और उल्लास के उद्वेग से शीला के मुख से शब्द निकलना कठिन हो गया। उसी भावावेग में बहते हुए, लज्जासे आरक्त मुख, मुँदी हुई आँखों और बहुत धीमे अस्पष्ट शब्दों में उत्तर दे शीला ने अपनी तपस्या का हाल सुनाया:—कैसे, नरदेव के परीक्षा पास करने पर

भी उसे तुरंत नौकरी नहीं मिली। शीला के माता-पिता उसके वर के सम्बन्ध में दुबारा विचार करने लगे। उस समय उसकी इच्छा हुई कि धरती फट जाय और वह उसमें समा जाय। जिनके चरणों में एक बेर आत्मसमर्पण कर दिया 'उनसे' दूर मृत्यु भी उसे न कर सकेगी। माता-पिता के सम्मुख कुछ कह सकना सम्भव न था परन्तु वह मरना तो जानती थी। विवाह क्या चाँदी के ठीकरों से किया जाता है ? वह तो आत्मा का सम्बन्ध है; जन्मजन्मान्तर का सम्बन्ध !

आत्मविश्वास और अपने पौरुष के विश्वास से नरदेव का सीना फूल गया। शीला को अपनी बाँहों में ले, किसी सुदूर अप्रत्यक्ष संसार की ओर देखते हुए उसने कहा—"शीला प्रिये, मुझे जान पड़ता है पिछले जन्म में भी हम एक साथ किसी तपोवन की फूलों से छाई भूमि पर यों घूमते-फिरते थे। मृत्यु ने आकर उस नाटक पर पटाक्षेप कर दिया। जीवन की नयी परिस्थितियों में फिर हम लोग कैसे आ मिले ? कैसे हम दोनों ने एक दूसरे को पहली ही दृष्टि में पहचान लिया ?"

उत्तर में नरदेव के सीने पर सिर रखकर शीला ने आँखें मूँद लीं। भूत और भविष्य के अपने अमिट आत्मिक सम्बन्ध पर दोनों ने दीर्घ चुम्बन की मोहर लगादी। दो आत्मायें जो एक हो चुकी थीं, शरीरों की पृथकता जिन्हें दूर किये हुए थी, सशरीर एक हो गईं। उस अन्तर-हीन सामीप्य में किसी न्यूनता और अवसाद की अनुभूति के लिये स्थान न रह गया। आत्माओं का प्रबल आकर्षण शरीरों के एकीकरण के रूप में चरितार्थ होने लगा।

बैंक की ड्यूटी के अतिरिक्त नरदेव और शीला का सब समय

एक साथ गुज़रता, खाना-पीना, घूमना-फिरना सब एक साथ। घर के काम-काज तक में शीला का हाथ बँटाने में नरदेव को संतोष मिलता। बैंक की लेजरबुक में हिसाब लिखते समय वह शीला के जीवन को अधिक सुखमय बनाने का उपाय सोचता रहता। क्या कुछ वह शीला के लिये घर ले जा सकता है; कैसे वह अपनी आमदनी को बढ़ा सकता है? मार्ग में सर्र से मोटर पर निकल जाते हुए जोड़ों और सड़क के किनारे भव्य बँगलों के बरामदों में फूलों के गमलों से घिरी, आराम कुर्सी पर बैठकर स्वेटर बुनती हुई, सभ्य महिलाओं की ओर देखकर वह सोचता, वह भी अपनी शीला के लिये ऐसा ही घर तैयार करेगा।

बड़े शहर के एक असुन्दर मुहल्ले में हैसियत से कुछ अधिक किराये का मकान लेकर उन्होंने अपना घोंसला सजा लिया। नरदेव का मन चाहा सामान उस मकान में न होने पर भी शीला की उपस्थिति उसे सुखद और रमणीक बनाये थी। नरदेव की अनुपस्थिति में शीला हाथ की दस्तकारी से मकान को सजाने का यत्न करती। उसके बैंक से लौटने के समय स्वयम् अपना शृङ्गार कर वह नरदेव के लिये दर्शनीय बन तैयार हो जाती और शेष समय में वह उपन्यास पढ़ अपनी कल्पना को सजग करने का उपाय करती।

× × ×

शीला की गोद की पहली लड़की तीन बरस की न हो पाई थी कि लेडीडाक्टर ने उसे तीसरी बार फिर से सचेत रहने की चेतावनी दे दी। नरदेव घबरा गया। प्रथम प्रसव और उसके परिणाम स्वरूप

उलझनों से अभी छुटकारा न मिल पाया था। कर्ज़ और उसका सूद अभी शेष था। अर्थ संकट दूर करने के लिये शब्द-पहेलियों (क्रॉसवर्ड पज़ल्स) में उसने जितनी माथा-पच्ची की उससे डाक का ख़र्च बढ़ने के अतिरिक्त कोई लाभ न हुआ। अकाउण्टेण्ट की डिग्री की परीक्षा वह देना चाहता था परन्तु उसके लिये फ़ीस न जुट पाती थी और न मानसिक अवस्था ही इस योग्य थी।

बैंक में तरक्की की कोई आशा दिखाई नहीं देती थी। वहाँ सभी क्लर्क एक दूसरे की जड़ काटकर अपनी जड़ मजबूत करने के यत्न में लगे हुये थे। सब ओर से निराश होकर भी नरदेव ने साहस किया। वह सुबह एक ट्यूशन पढ़ाने लगा और शाम को एक व्योपारी का लेखा लिख देने का काम उसने ले लिया। परन्तु सब कुटम-छाजन समेटकर भी सिलसिला ठीक से नहीं बैठ पाया। प्रेममयी शीला शाखा-प्रशाखा सहित अपने विस्तृत रूप में फैल रही थी परन्तु उनकी प्रेम कुटीर से प्रेम कूजन की गूँज लुप्त हो गई। अब वहां सुनाई देती थीं—बच्चों के रोने-चिल्लाने की पुकार, शीला की दरद भरी कराहट और कभी-कभी नरदेव की झल्लाहट।

आनन्द और उत्साह की बात भूल कर अपना कर्तव्य समझ नरदेव शीला और बच्चों के आराम के लिये प्राण तक देने के लिये तैयार था परन्तु उसके मूल्यवान प्राणों के मूल्य में दैनिक आवश्यकता की अत्यन्त साधारण वस्तुयें भी न मिल पाती थीं। उन्नति और विकास की बात वह भूल चुका था। अब वह चाहता था, केवल अपने प्राणों को तिल-तिल निछावर करके भी, किसी तरह स्त्री और संतान का पेट भर सके।

अब उसकी कल्पना भविष्य जीवन के लिये मनोरम राजपथ तैयार न करती थी। उसकी सीमा अब बनिये के हिसाब, ब्याज और दूध के खर्च तक रह गई। और जब उसकी कल्पना इन सब चिन्ताओं की प्रतिक्रिया में सीमा लाँघकर गहराई में चली जाती, उसे जान पड़ता—उसका जीवन एक बोझ मात्र है। वह अवसाद और निराशा में डूब जाता। एक प्रकार की भावना से वह अपनी सन्तान को अपने जीवन की शक्ति चूस लेनेवाला शत्रु समझने लगता। दूसरे समय उन्हें सीने से लगा, वह अपने दुख क्लेश को भूल जाने का यत्न करता।

× × ×

शीला पाँचवे प्रसव की पीड़ा से कराह रही थी। उस कराहट के कारण नरदेव के लिये नींद लेना कठिन था। वह सोना भी नहीं चाहता था। किसी समय किसी विशेष आवश्यकता के कारण उसे अँधेरी गलियों में दौड़ना पड़ सकता था। पहले भी ऐसा हो चुका है। मन और शरीर की शिथिलता और तत्परता के एक विचित्र संयोग की अवस्था में वह सिरहाने के पीछे स्टूल पर पीतल का पुराना टेबिल लैम्प जलाकर लेटा हुआ सामने दीवार की ओर निरुद्देश्य दृष्टि लगाये था। सामने दीवार पर टँगी, शीशे में मढ़ी, बरसों से उपेक्षित फोटो पर उसकी आँखें जा टिकीं। उस कमरे में लगी अन्य तीन-चार तसवीरों की तरह वर्ष में एक बार दीवाली पर उसे भी झाड़-पोंछ दिया जाता था।

उस फोटो का अतीत इतिहास नरदेव को याद आने लगा। पहले वह फोटो अँगीठी की कानस पर रखी रहती थी, ताकि आते-

जाते सदा सम्मुख रहे। शीला कभी-कभी उस पर फूल का हार चढ़ा दिया करती थी। बड़ी लड़की सुरमा जब तीन बरस की थी, एक दिन उसके हाथ की लकड़ी से तसवीर के काँच में एक मोटा बाल पड़ गया। उस दिन नरदेव और शीला दोनों को ही बहुत बुरा लगा परन्तु अबोध बच्चे को क्या कहा जा सकता था। तसवीर को कानस से उठाकर दीवार पर लटका दिया गया। जिन बीते दिनों की याद वह दिलाती थी, उन्हीं की तरह वह भी विस्मृत हो गई।

तसवीर नरदेव और शीला के विवाह के कुछ ही दिन बाद की थी। वे दोनों एक ही तिपाई पर एक दूसरे के सहारे बैठे हुए दिखाई दे रहे थे। फ़ोटो में शीला का वह रूप और अवस्था थी, जिस पर नरदेव ने अपने आपको निछावर कर दिया था। काँच पर पड़ा मोटा बाल नरदेव और शीला को जुदा करता हुआ नरदेव के कंधे के ऊपर से होकर गुज़र गया था। बाल की संधी की राह प्रवेश कर गई सीलन और महीन धूल ने नरदेव के चेहरे के रंग को विकृत कर दिया था। बाल से दूर रहने के कारण शीला का चेहरा अब भी बहुत कुछ ज्यों का त्यों बना था। तसवीर में अपने चेहरे का बिगड़ जाना नरदेव को अन्याय जान पड़ा।

वह सोचने लगा, शीला के चित्र में दिखलाई देनेवाला, बाँकी शीराज़ी कबूतरी जैसा रूप एक धोका था। आज वह हाल ही में अण्डों पर से उठी हुई, परझड़ी, चूजों से घिरी हुई मुर्गी की तरह है, जो हर समय कुड़कुड़ाती रहती है; यही उसकी असलीयत है। वह स्वयम् चित्र में जैसा रूपवान युवा जान पड़ता था, वैसा ही बहुत कुछ आज

भी है। केवल उसके बाल खिचड़ी हो गये हैं और चिन्ताओं के कारण चेहरे पर ज़रा ढीलापन आ गया है। और यह सब चिन्तायें आईं कहाँ से? इन सबका स्रोत यह औरत ही तो है, जिसने उसकी उन्नति के पथ को रोक दिया। कितनी महत्वाकांक्षायें, कितना उत्साह उसके हृदय में था? एक वेगवान नदी की तरह वह सभी बाधाओं को दूर करता हुआ आगे बढ़ सकता था परन्तु..........धूल के मैदान की तरह आगे आकर इस औरत ने उसकी शक्ति के प्रवाह को सोख लिया। वह एक फैला हुआ दल-दल मात्र बन गया। उसकी शक्ति आगे न बढ़कर इस औरत और उससे पैदा होते जाने वाले बच्चों के पालन में डूब गई। यह औरत और बच्चे उसकी शक्ति के भण्डार में छिद्र हैं। वह कुछ भी करे, वह आगे बढ़ने के लिये शक्ति संचय नहीं कर सकता। तभी तो कहते हैं—स्त्री भ्रम और माया का मोहक रूप है।

एक दीर्घ निश्वास लेकर उसने फिर उस फ़ोटो की ओर देखा और उसे फिर याद हो आया, उस समय कितना उत्साह उसके मनमें था। साठ रुपये की नौकरी स्वीकार करना उसे अपना अपमान जान पड़ा था। उसे स्वीकार कर लिया था केवल इस औरत के माता-पिता का मन रखने के लिये, कुछ दिन की बात समझ कर। यह सोच कर कि आरम्भ सदा नीचे से ही किया जाता है। यह रुकावटें न आ जातीं तो वह पी० सी० एस०, आई० सी० एस० की परीक्षा देकर सहज ही मैजिस्ट्रेट बन सकता था। परन्तु वे सब स्वर्ग-स्वप्न सदा के लिये विलीन हो गये। उसके पैरों में इतना बोझ बँध गया कि वह कदम उठा ही नहीं सकता। इसी को तो भाग्य कहते हैं—पुरुष योग्यता

और पुरुषार्थ करते हुए भी कुछ न कर सके। क्या वह इसी प्रकार दारिद्र्य के दल-दल में फंसकर सड़ने योग्य था ?

शीला के कराहने की, आवाज़ निरन्तर आ रही थी। बीच-बीच में दरद की टीस उठने पर वह चीख भी उठती थी। उसका वह कराहना और चीखना नरदेव को बुरा मालूम हो रहा था। शीला के प्रथम प्रसव के अवसर पर उसकी पीड़ा के ध्यान से नरदेव का हृदय मुँह को आने लगता था। अब वह बात न थी। "दाई मौजूद है और क्या किया जाय!"—उसने सोचा और फिर तर्क ने कहा—"स्त्रियों को तो यह सब होता ही है। यह सब उनका स्वभाव और जीवन है।"

शीला के भाग्य के प्रति करुणा का विचार आने से पहले उसका ध्यान चला गया स्वयम् अपने भाग्य की ओर। उस शारीरिक पीड़ा से कहीं अधिक मानसिक यंत्रणा वह स्वयम भुगत रहा है ; प्रतिदिन भुगतता रहता है और भुगतता रहेगा। आज के इस प्रसव के बाद उसकी मानसिक यंत्रणा और बढ़ जायगी। पहली सन्तान के बाद से प्रत्येक प्रसव के समय वह इसी प्रकार की मानसिक यंत्रणा का शिकार बना है। अनेक वीभत्स और कुत्सित विचार उसके मन में आये हैं। प्रसव के इस संकट में नई आती हुई सन्तान यदि मर जाय, यदि संतान और माता दोनों ही मर जायँ ?

वह निश्चय न कर पाता था कि सन्तान और माता मर जाँय या नहीं ? सन्तान की मृत्यु से उसे दुःख होगा परन्तु जीवन भर के बोझ से वह बच सकेगा परन्तु माता की मृत्यु के विचार से वह काँप उठता था। सन्तान की माता अब स्वप्न की काम्य सुन्दरी नहीं, सन्तान का

वहन करनेवाली माता थी····और यदि सब एक साथ मर जायँ तो !···· दुख से नरदेव का हृदय चकनाचूर हो कर उसका संसार सूना हो जायगा परन्तु वह सब जिम्मेवारी और बोझ से छूट जायगा। उस दुख में संसार से विरक्त होकर वह एक संन्यासी बन जायगा जिसका संसार में कोई नहीं। वह न दुख को दुख समझेगा न सुख को सुख ! वह मुक्त हो जायगा। परन्तु कभी कोई मर न सका। क्योंकि नरदेव अपने दुर्भाग्य से कर्तव्य पूरा करने के लिये मौजूद था।

चार बच्चों की रोटी पाँच को बाँटनी पड़ेगी। मतलब यह कि प्रत्येक भूखा रहेगा और उसके लिये नरदेव क्या कर सकेगा ? क्या कुछ करने का यत्न उसने नहीं किया ? परन्तु उसके पैरों में बेड़ियाँ जो पड़ गई हैं। इसी प्रकार मानसिक यंत्रणा सहते-सहते एक दिन वह समाप्त हो जायगा परन्तु उस समय उसकी मानसिक यंत्रणा कितनी विकराल होगी········?

और मृत्यु के पश्चात् फिर नवीन जन्म। इससे पहले जन्म में वह क्या था ? सहसा उसे स्मरण हो आयी अपनी सुहागरात········शीला के गले में बाँह डालकर उसने कहा था—"हम तुम जन्म-जन्म के साथी हैं। पिछले जन्म में हम तपोवन की फूलों से छाई भूमि पर इसी तरह घूमते-फिरते थे।" अपनी उन मूर्खता पर उसने घृणा से मुख बिचका लिया।

उदासीनता से उसने सोचा, पिछले जन्म के संस्कारों से उसकी आत्मा कितनी निर्बल हो चुकी है। इस जन्म के संस्कारों से वह और भी गया बीता हो गया। मानसिक यंत्रणा और मोह को वह अपने

जीवन का लक्ष स्वीकार किये बैठा है। और यह सिलसिला उसके जन्म जन्मान्तर के लिये है जिसमें प्रत्येक नया जन्म अधिक घृणित और कुत्सित..........नाली के कीड़े की तरह है जो गन्दगी में रहकर भी उससे मोह और प्रेम करता है।........स्वयम् अपने शरीर को वह नाली की गन्दगी में रींगता हुआ अनुभव करने लगा। उसने सोचा—"मेरी ही तरह संस्कारों में फँसी आत्मायें वह भी हैं।" वीभत्स कल्पना से उसका रोम-रोम थर्रा उठा। उसने अनुभव किया, वह पतन के अथाह में गिरता चला जा रहा है। शीला की कराहट उसे सुनाई देनी बन्द हो गई।

सौर से एक तीखी चीख सुनकर उसकी चेतना लौट आई। गालों पर बहते आँसू को पोछने के लिये उसने अपने चेहरे पर हाथ फेरा जहाँ दो दिन की उपेक्षित हजामत आँसुओं में भी भीगी थी। हाय मैं इतना कुत्सित हो गया हूँ; इतना घृणित? किस प्रकार अपनी आत्मा की रक्षा मैं कर सकता हूँ?........क्या मैं पतन की अन्त-रहित सीढ़ी पर इसी प्रकार गिरता जाऊँगा, जन्म जन्मातर तक।........कभी नहीं! वह उठकर फर्श पर पैर टिकाकर बैठ गया।

भीतर से शीला की कराहट के साथ ही दूसरी ओर से बड़ी लड़की सुरमा की तीखी आवाज़ भी आरही थी जो अपनी छोटी बहन के चुपचाप न सो कर व्यर्थ जिद्द करने और रोने की शिकायत कर रही थी। नरदेव यह सब कुछ नहीं सुन रहा था। वह अपनी आत्मा को मोह और पतन से बचाने का दृढ़ निश्चय कर रहा था—"मैं जन्म जन्मान्तर के पतन के बंधन से मुक्त होऊँगा।"

बिना दाँत के पोपले मुँह से गरज-गरजकर दाई कह रही थी—"कहाँ हैं बाबू।...........लड़के का मुँह दिखाया है। अब की मैं चाँदी की ठोस चीज़ लिये बिना न मानूँगी.......कहाँ हैं बाबू ?"

उसके मन्थर कदमों की अवज्ञा कर हिरनी की तरह कुलाचें भरती और चिल्लाती हुई सुरमा आई—"बाबूजी, भैया हुआ........।"

इस सब आनन्दोल्लास को सुननेवाला वहाँ कोई न था। मकान का बाहर का दरवाज़ा खुला पड़ा था और नरदेव की चारपाई खाली थी।

× × ×

ऋषीकेश से आगे बद्रीनाथधाम की सड़क पर यात्रियों में एक संन्यासी पैदल जा रहा था। उसके पैरों में फटी बिवाई से रक्त बह रहा था परन्तु वह उस ओर नहीं देखता। प्रचण्ड धूप में जब दूसरे यात्री सराय, दुकानों और वृक्षों के नीचे विश्राम करते हैं, वह किसी तपी हुई चट्टान पर बैठ जाता है। रात में थक जाने पर वह बर्फ़ीली, तीखी वायु के थपेड़ों में चट्टानों पर लेटा रहता है। मार्ग में चलते यात्रियों, स्त्रियों, और कण्डी पर चढ़े हँसते-रोते बच्चों की ओर वह नहीं देखता।

अपने शरीर की आवश्यकताओं के सम्बन्ध में वह इस तरह बात करता है, मानो किसी अन्य व्यक्ति के सम्बन्ध में चर्चा कर रहा है। भूख लगने पर केवल एक बार, किसी एक व्यक्ति से, जो सामने आ जाय, बिन उसकी ओर देखे भिक्षा माँग लेता है। यात्रियों में उसके संयम और त्याग का बहुत चर्चा है।

उस दिन थका देनेवाली यात्रा के बाद जिस व्यक्ति से उसने भिक्षा चाही वह एक कुली था, जो साधारण से बड़ा बोझ पीठ पर

उठाये यात्रियों के पीछे-पीछे लाठी टेकता हुआ चला आ रहा था। उसके माथे का पसीना लगातार बह-बहकर उसकी एड़ियों से धूल में चिह्न बनाता आ रहा था। पड़ाव पर पहुँच, एक चट्टान के सहारे अपने बोझ को टिका, स्वयं ऊँकड़ू बैठ उसने अपने शरीर को बोझ की रस्सियों से मुक्त किया। माथे के पसीने को हाथों से धूल में गिरा उसने अपनी कमर से रात की बनी सूखी, मोटी रोटी की गाँठ खोली। उसी समय संन्यासी ने उसके सम्मुख खड़े होकर कहा—"साधू का शरीर भोजन माँगता है।"

कुली ने वितृष्णा भरी दृष्टि से साधू की ओर देखा और लोभ भरी दृष्टि से अपनी रोटियों की ओर। फिर एक बेर साधू के गम्भीर निश्चल चेहरे की ओर उसने आँखें उठाईं। सहमते हुए हाथ से तीन में से एक रोटी उठा कर उसने साधू की ओर बढ़ादी।

साधू की मुद्रा शान्त थी। उसने कुली को आशीर्वाद दिया—"मोह मुक्त हो।"

दो

दो मुँह की बात—

मंसूरी की बारिश। घने सुरमई बादल ऐसे छा रहे थे कि कहीं कोई कोर-किनारा दिखाई न देता था। मूसलाधार पानी यों बरस रहा था मानो पहाड़ की चट्टानों को तोड़ देना चाहता हो। मैं बेबस खिड़की के सामने बैठा यह सब देख रहा था। कहीं बाहर जाना सम्भव न था। इसलिए शिथिल शरीर शाल ओढ़े, कुर्सी पर लुढ़क एक बँगला उपन्यास पढ़ने की तैयारी करने लगा।

पानी भरे भारी जूतों की आहट बराम्दे में पा गर्दन घुमाकर देखा, उस भारी बरसात में ही जसवन्त चला आ रहा है, भीगी हुई बरसाती से बहते हुए परनालों और जूतों के कीचड़ से फर्श के खराब होने की कुछ भी परवाह न कर, बरसाती उतार उसने खूँटी की तरफ फेंक दी। वह निशाना चूककर फ़र्श पर आ गिरी। उसने उस ओर देखा भी नहीं। उसकी चाल और चेहरे के भारीपन से जान पड़ता था—कोई असाधारण घटना हो गयी है।

मेज़ के पास पड़ी कुर्सी को एक ओर झटक वह उस पर बैठ गया। कोहनी मेज़ पर टिका, ठोड़ी हथेली पर रख वह दीवार की तरफ यों देखता रहा, मानों मैं कमरे में हूँ ही नहीं, या उसने मुझे देखा ही नहीं।

हाथ की किताब बन्द कर पूछा—"क्यों ?"

दो दफे 'क्यों' पूछने पर भी जब उत्तर न मिला तो मेज़ पर झुक चिन्ता से पूछा—"आखिर बात क्या है ?"

हथेली पर रखी हुई ठोड़ी को मेरी तरफ घुमाकर उसने उत्तर दिया—"बात क्या है ? आखिर बदगुमानी की भी एक हद है ! दुनिया में सभी लुच्चे-लफंगे नहीं........"।

घबराकर प्रश्न किया—"तुम्हारा मतलब ?"

ठोड़ी को हथेली से हटाये बिना उसने उत्तर दिया—"आदमी नेक-नियती से, शराफ़त के ख़याल से मदद करना चाहे और उसे उचक्का और बदमाश समझा जाय........?"

परेशानी से सोचने लगा—"आखिर मुझसे कब क्या ग़लती हुई ?" डरते हुए फिर पूछा—"कुछ बताओगे भी ?"

अबकी दोनों हाथों की मुट्ठियाँ ज़ोर से बन्द करते हुए उसने कहा—"मेरा दिल नफ़रत से भर गया है और मैंने क़सम खा ली है कि अगर मेरे ज़मीन पर थूक देने से भी ऐसी लड़कियों की जान बचती हो, तो वह भी मैं नहीं करूँगा........।"

सन्तोष से एक लम्बी साँस ली और सोचा—"ख़ैर, बात किसी लड़की की है।"

नवयुतियों की ओर से युवकों पर होने वाले अत्याचारों की कथा से अपना दिल कब का पत्थर हो चुका है, उस पर एक चोट और सही। ज़रा और आगे सरक, नौकर को चाय लाने का हुक्म दे मैंने गम्भीरता से प्रसंग आरम्भ किया—"हुआ क्या ?"

"तुम तो जानते ही हो इन पहाड़ी जगहों में बारिश का मैं कभी एतबार नहीं करता। हमेशा बरसाती और छतरी साथ रखता हूँ। अभी यह बारिश भी जिस तरह आयी, कोई ख़याल ही न था। 'कैमल बैक रोड' से मैं जा रहा था। क़ब्रिस्तान के पास एकदम पानी आ गया। थोड़ी ही दूर आगे तिलक लायब्रेरी के पासवाली सड़क के किनारे बनी टीन की शेड तक पहुँचा था कि पानी ने बेहद ज़ोर पकड़ा। छतरी का किनारा माथे पर झुकाए भागकर शेड में शरण ली। शेड के नीचे जाकर देखा, बेंच पर तीन लड़कियाँ बैठी हैं।

"वे लड़कियाँ ऐसे सक-पकाने लगीं, मानो मैं चोर-डाकू हूँ। किसी के घर में घुस आया हूँ। घबराहट से उनके चेहरे लाल-पीले हो गए। मैं शेड के पच्छिम कोने पर खड़ा था। बौछार पूरब की ओर से आ रही थी। मेरी तरफ पीठ कर वे लड़कियाँ आपस में फुसफुस करने लगीं। हवा पूरब की थी, इसलिए उनकी बात स्पष्ट सुनाई पड़ रही थी।

"सबसे पच्छिम तरफ बैठी बौटलग्रीन (मूँगिया) रंग की साड़ी वाली लड़की अपने पूरब बेंच पर बैठी दोनों लड़कियों से पूरब की ओर और आगे खिसक जाने के लिए कहने लगी ताकि वह मुझसे और दूर हो सके। बेंच के उस सिरे पर लगातार पानी पड़ रहा था। पूरब

ओर की सफेद साड़ी वाली लड़की पानी में सरकने के लिए तैयार न थी। धीमे स्वर में उसने कहा—"खा थोड़े ही जायगा ?"

"लेकिन बौटलग्रीन साड़ीवाली लड़की उसे आगे सरकने के लिए मजबूर करती रही। उसे काफ़ी आगे सरकते न देख वह खुद उठ कर बारिश में बैठने चली।

"यह हाल देखा तो मजबूर हो मैं खुद बौछार की ओर जा खड़ा हुआ और उनसे कहा—"आप क्यों भीगतीं हैं ? आप खुश्क जगह पर हो जाइए। लीजिए मैं इधर हो जाता हूँ।"

मेरे उस ओर जाते ही वे तीनों बेंच छोड़कर शेड के उत्तर किनारे पर जा खड़ी हुईं।

मैं परेशान था, आखिर क्या करूँ ? लौटकर मैं फिर पच्छिम तरफ आ खड़ा हुआ कि वे बेंच पर बैठ सकें परन्तु वे और भी अधिक पानी में हो गईं। बौटलग्रीन साड़ीवाली, बाकी दोनों लड़कियों से शेड से निकल चलने के लिए कहने लगी।

"इसी वक्त एक रिक्शा सड़क पर से गुज़री। रिक्शा को देख वे झटपट खड़ी हो गयीं। कोई भी समझ सकता था, उन्हें रिक्शा की ज़रूरत है। मैंने पुकारा—'ओ रिक्शा।" लेकिन रिक्शा खाली नहीं थी।

"पूछा—'आपको रिक्शा चाहिए, मैं जाकर ला दूँ ?' जवाब में मेरी तरफ पीठ कर, ओंठ चबाती हुई वे और भी बारिश में हो गयीं।"

"हरी साड़ीवाली लगातार दूसरी दोनों लड़कियों से शेड छोड़ कर बारिश में चल देने के लिए कहने लगी। सफ़ेद साड़ीवाली को साड़ी

भीगने के खयाल से एतराज़ था। बीचवाली रिक्शा का इन्तजार करना चाहती थी। हरी साड़ीवाली की ज़िद्द पर जब उन्हें उस बारिश में ही सड़क की तरफ बढ़ते देखा तो मैंने कहा—"अगर आप को बारिश में ही जाना है तो यह छतरी ले जाइए।"

"मेरी बात सुन उन्हें ऐसे कँपकँपी आ गयी मानो गरम लोहा छू गया हो। बिना छतरी के ही बारिश में चले जाने की उनकी ज़िद्द देख मैंने कहा—'मेरे यहाँ ठहरने में आपको एतराज़ है तो आप ही यहाँ ठहरिए। लीजिए, मैं ही चला जाता हूँ?' और मैं इस बारिश में भागता हुआ यहाँ तक आ गया।"

"तुम्हीं बताओ? है नीचता और बेएतबारी की हद्द! ये लड़कियाँ समझती हैं, वे सब स्वर्गलोक की अप्सराएँ हैं या मिठाई की तश्तरी हैं कि आदमी भूखे कौओं की तरह इन पर झपट पड़ेंगे और मौका पाते ही निगल जायँगे। आदमी सब बदचलन हैं और ये शरीफ़ हैं!"

इतना कह चुकने के बाद जसवन्त ने प्याले में ठण्डी होती हुई चाय की तरफ़ नज़र डाली और फिर गुस्से से मेरी तरफ़ देखकर कहने लगा—"आख़िर इस शक की वजह?"

लड़कियों का अभिमान, पुरुषों पर उनकी ज़्यादती यह सब ऐसे विषय हैं, जिन पर बरसों तर्क हो सकता है और बीतते हुए समय का भी ख़याल नहीं रहता। इसलिए चुप रहना ही बेहतर समझा। बातों ही बातों में बारिश रुककर फिर धूप निकल आयी। पहाड़ का आकाश और बच्चे की आँखें; इनके रोने हँसने में देर नहीं लगती। घड़ी में देखा—साढ़े पाँच बज रहे थे।

जसवन्त उठकर चलने की तैयारी करने लगा। मुझे भी ख़याल आया, साढ़े छः बजे दत्त के साथ 'रिंकथियेटर' में मनीपुर की डांसिग पार्टी का नाच देखने जाने की बात थी।

× × ×

छः बजे दत्त के मकान पर जाकर देखा; जैसे रिंक चलने की बात वह बिलकुल ही भूल गया हो, इस तरह लेटा हुआ अख़बार का एक सफ़ा पढ़ रहा है। ऊँची आवाज़ में चिल्लाकर पुकारा—वाह रे। छः बज गए और जनाब को अभी तक होश नहीं।' लेकिन वह बिलकुल निश्चल! जैसे प्राणायाम कर रहा हो।

जवाब दिया उसकी बहन साधना ने। दूसरे कमरे से आकर बोली—"बैठिए, भाई साहिब!"

घड़ी दिखाते हुए मैने कहा—"बैठने का समय कहाँ है? दत्त ने तो रिंक चलने के लिए मुझे बुलाया था।"

"भइया तो ज़रा हमारे साथ जा रहे हैं। आज कुलड़ी बाज़ार में मेरी एक सहेली के यहाँ पार्टी है।"

"तो तुम जाओ"—मैंने जवाब दिया—"मैं तो दत्त की बात कह रहा हूँ।"

"हाय, अकेले! मैं मर गयी!"—साधना ने भय से साँस रोककर उत्तर दिया—'बाबा मैं अकेली कभी नहीं जा सकती। इन मर्दों के मारे अकेले कोई कहीं जा सकता है? पता है आप को? आज ही,······ मैं तो अकेली जाती ही नहीं थी। राधा और शीला सुबह आयी थीं, वे मुझे ज़बरदस्ती साथ ले गयीं। रास्ते में बड़े ज़ोर का पानी आ गया तो

हम लोग कैमलबैक रोड वाले टीन के शेड में चली गयीं। हम तीनों को अकेली देख एक आदमी झट से वहाँ आ घुसा। मैं तो डर के मारे काँपने लगी। हम लोग एक तरफ़ होकर बैठीं तो वह बदमाश कहता क्या है—"अजी आप भीगती क्यों हैं, यहाँ ही बैठिए।"

और जब हम चुप रहीं तो ख़ुद आकर पानी में हमारे पास खड़ा हो गया। मुझे तो बड़ा डर लगा। मैंने राधा से कहा—'चल उठ; जल्दी चलें, यहाँ पानी बरसते में अकेले ऐसे बैठना ठीक नहीं।' पर वह बग़ैर रिक्शा के हिलना नहीं चाहती थी। उस बदमाश ने देखा कि इन्हें रिक्शा की ज़रूरत है, तो कहता क्या है—"मैं जाकर ला दूँ?"

"पूछो भला तुझे मतलब? दिल में आया कह दूँ—तू अपनी माँ-बहनों को रिक्शा ला कर दे। पर मैं चुप रही। मैं तो पहले ही कहती थी कि जल्दी चलो परन्तु शीला को अपनी क्रेप की साड़ी ख़राब होने का डर लग रहा था। हालाँकि मेरी सिल्क की बाटलग्रीन साड़ी ख़राब हो गयी पर मैंने कहा, ऐसे आदमी के साथ अकेले में कौन ठहरे? मैंने फिर उन लोगों से चलने को कहा तो बेशरम कहीं का, कहता क्या है?—"अजी हमारी छतरी ले जाओ, भीगती क्यों हो?"

"और जब हम बारिश में चल दीं, तो हमें अहसान जताने के लिए कहता क्या है—'अजी, आप हमारी वजह से बारिश में क्यों जा रही हैं? लीजिए, हमी जाते हैं आप यहीं रहिए।' भैय्या! मुझे बड़ा गुस्सा आया पर चुप रह गयी। अब आप ही बताइए, ऐसी हालत में कहीं कोई अकेला जा सकता है?"

एक कान से मैं साधना की बात सुनता रहा और दूसरे कान में जसवन्त के मुँह से सुनी कहानी गूँज रही थी। एक बार ख़याल आया, जसवन्त की कहानी दोहरा दूँ परन्तु उससे मज़ा बिगड़ जाता ! स्त्री और पुरुष के अलग-अलग संसार एक में मिल उलझ जाते ; इससे दो मुँहों की बात अलग-अलग ही बनी रहने दी।

तीन

बड़े दिन का उपहार

शक्लों की ही तरह कुछ नामों में भी ग़लतफ़हमी की गुंजाइश रहती है। उदाहरण के लिए आप 'हैमिल्टन' को ही लीजिए। हैमिल्टन! सुनते ही एक रोबीले अफ़सर की आकृति आँखों के सामने आ जाती है। जो ऊँचे कुम्मैत घोड़े पर सवार है। हाथ में हण्टर और घुटनों तक वैलिंगडन बूट। लोग झुक-झुककर सलाम करते हैं और वह कनखियों से देख ज़रा गर्दन झुका देता है।

परन्तु हमारे हैमिल्टन साहब का ढंग दूसरा था। लोग उनका कुछ अदब करते थे तो इसलिए कि उनसे डरने की कोई वजह ही न थी। उनके पुरखों ने 'राजा का धर्म' स्वीकार कर अपनी स्थिति को ऊँचा उठाने का यत्न किया था। परन्तु हैमिल्टन साहब को उसका कुछ ध्यान न था।

कई दफ़े रुकने और फिसलने के बाद जब एक-एक कुर्सी आगे बढ़ते वे हेडक्लर्की की कुर्सी पर पहुँच ही गए तो अपने मातहत

क्लर्कों पर नाराज़ हो जाने से, ग़ुस्से में उनका काम खुद करने लगते। और बड़े साहब से अब भी यों बात करते, मानो वे अप्रेन्टिस हों। चपरासी उन्हें सलाम करते थे, तो अपनी तबीयत से, क़ायदे के ख़याल से नहीं। नीची श्रेणी के लोगों में उनका असली नाम बहुत कम लोग जानते थे। एक क्रमागत नाम ऐसे लोगों के लिए चला आया है—'पिलपिली साहब !' बस, यही नाम हैमिल्टन साहब का उनकी पीठ पीछे लिया जाता था।

ऐसे ग़रीब और निरीह आदमियों का लिहाज़ भाग्य नहीं करता। हैमिल्टन साहब के घर में सिवा उनकी मेम के और कोई न था। बच्चे आए और माँ बाप को हँसा-रुलाकर चले गए। मिसेज़ हैमिल्टन भी एक साल कड़े जाड़े में उन्हें छोड़कर चल दीं। निमोनिया की कठिन पीड़ा के रूप में भगवान ने उनकी परीक्षा ली और अपने प्रति उनके अटल विश्वास से प्रसन्न हो प्रेम से उन्हें अपनी गोद में बुला लिया।

हैमिल्टन साहब ने माथे पर हाथ मारा और फिर भगवान की इच्छा समझ, सिर हिलाकर रह गए। उनके मूक शोक को देखकर यमराज भी अपनी करनी पर पछताये होंगे; परन्तु उनके यहाँ फ़ैसले पर फिरसे नज़रसानी का क़ायदा जो नहीं; क्या करते ?

कुछ ही दिनों में हैमिल्टन साहब के गाल धँस गए। अनबहे आँसू आँखों के नीचे थैलियों के रूप में लटकने लगे। कनपटियों और गालों के बीच जाल पड़ गए। उनका बरसों का वफ़ादर चाँदी की कमानी का चश्मा भी दग़ा दे गया। दफ़्तर वे समय पर ज़रूर पहुँच जाते परन्तु मिसल के बजाय स्याहीचूस पर दस्तख़त कर बैठते। क्लर्कों के लिए

ज़रूरी हिदायत बड़े साहब की फाइल पर और बड़े साहब के कागज़ की बात क्लर्कों को भेज देते।

बड़े साहब के दिल में उनके लिए दरद था। उन्होंने समझाया—"सारी उम्र की कमाई पर पानी फेरने से क्या लाभ ? तुम्हारी आँखों और दिमाग़ को आराम की ज़रूरत है । तुम्हारी पेन्शन में सिर्फ़ एक साल बाकी है। तुम पेन्शन की तैय्यारी की छुट्टी लेकर किसी एकान्त और ठण्डे स्थान पर जाकर विश्राम करो !"

इस नसीहत से मजबूर हो अक्तूबर के अन्त में, जब सब लोग नीचे जा रहे थे, हैमिल्टन साहब मंसूरी आ पहुँचे। बँगलों और कोठियों के एक दलाल ने गरमी के मौसम का किराया उनसे वसूल कर जाड़े भर के लिए एक मकान उनके लिए ठीक कर दिया। एक बेकार ख़ानसामे ने उनके भोजन की तैय्यारी की कठिन ज़िम्मेवारी, मामूली तनख़्वाह पर, अपने सिर ले ली। ग़रीब हमदर्द ख़ानसामा गोश्त की तरी और शोरबा कटोरी में ख़ुद पीकर, प्लेट में बोटियाँ और हड्डियाँ साहब को परोस, अपना कर्तव्य निबाहने लगा।

हैमिल्टन साहब सन् चौदह से पहले के सिले अपना ऊनी सूट पहने कोट की दोनों जेबों में हाथ डाले, कोहनियाँ पसलियों से चिपकाए, कानों तक ऊनी टोपी खींचे, उजड़ी मंसूरी की बियाबान सड़कों पर घूम आते। वहाँ न कोई उन्हें सलाम करने वाला था, न सहानुभूति प्रकट करने वाला। उन सूनी सड़कों पर अगर कभी कोई दिखाई पड़ता तो पेंशनिया साहब का सौदा लाने वाले खानसामे या अँग्रेज़ी स्कूलों के, पढ़ाई से भागे हुए लड़के।

हैमिल्टन साहब की धुँधली और उत्सुक आँखें राह चलने वालों की ओर उठ जातीं; परन्तु किसी को उनसे मतलब न था। बन्द दुकानें, वीरान मकान, रूखे नंगे पहाड़, सूखी हुई फुलवाड़ियाँ, पत्ते झड़े हुए रूखे नंगे वृक्ष, कठोर स्वर में पुकारते हुए पहाड़ी कौए, हड्डियों को सुन्न कर देने वाली साँय-साँय करती वायु, आंखें चौंधिया देने वाला निस्तेज सूर्य—इनके सिवा कुछ नहीं। सड़कों और बाज़ारों को कई-कई दफ़े नाप लेने के बाद भी जब उन्हें पुकारनेवाला कोई न मिला तो उन्होंने 'किनक्रेग' की दुरूह चढ़ाई और उतराई को नित्य नापना शुरू किया। किनक्रेग मंसूरी में आने-जाने वाली मोटरों का अड्डा है। वहाँ तो किसी न किसी दिन कोई न कोई उन्हें पहचानेगा ही, पुकारेगा ही।

दिसम्बर के तीन सप्ताह भी बीत गए। हैमिल्टन साहब दोपहर के भोजन से पहले माल, कुलड़ी और लण्ढौर बाज़ार की परिक्रमा कर दोपहर के बाद 'किनक्रेग' उतर आते। एक बेंच पर बैठ वे आने और जाने वाली प्रत्येक मोटर की ओर आँखें उठाकर देखते—परन्तु कोई नहीं।

इतना बड़ा इलाहाबाद शहर, लाखों की बस्ती और एक भी आदमी मंसूरी आने का नाम नहीं लेता! ज्यों-ज्यों सूर्य की दिशा बदलने से किनक्रेग में धूप घूमती जाती, वे अपनी बैठने या खड़े होने की जगह भी बदलते जाते। कोई मोटर वाला भ्रम से उन्हें सवारी नहीं समझता, कोई कुली उनका असबाब ढोने की आशा नहीं करता और न रिक्शा वाले ही उन्हें पुकारते। मानो वे भी किनक्रेग के फाटक और

टीन के मकानों की तरह किनक्रेग के एक भाग हैं। किनक्रेग से धूप निकल जाने के बाद ज्यों-ज्यों अस्ताचल की ओर जाते हुए सूर्य की किरणें पहाड़ों की चोटियों की ओर सिमटने लगतीं, हैमिल्टन साहब के क़दम भी चढ़ाई की ओर उठने लगते परन्तु सूर्य की किरणें भी उन्हें मार्ग में छोड़ जातीं।

(२)

लिली से ब्याह करने के अरमान को जोन्स तीन बरस से दिल में पीस रहा था। उसकी महत्वाकांक्षा भी कम न थी। लिली थी, रेल्वे दफ़्तर में छोटे साहब की टाइपिस्ट और जोन्स वर्कशाप में एक मामूली फ़िटर। माना लिली उसे प्यार करती थी ; परन्तु सामाजिक स्थिति भी तो कोई चीज़ है, जो हाथ से काम करने वालों को सदा करुणा और घृणा की दृष्टि से देखती है।

आख़िर इस वर्ष अक्टूबर में एक परीक्षा पास कर जोन्स शिफ़्ट इंजीनियर बन गया। तनख़्वाह उसकी बढ़ी, सो अलग ; इसके साथ ही वह मिस्त्री के मामूली पद से कूदकर इंजीनियर के ख़िताब का हक़-दार हो गया। पद और सम्मान की इस वृद्धि से अधिकार भी उसे प्राप्त हो गया।

दिसम्बर में बड़े दिन के शुभ पर्व पर छुट्टी का प्रबन्ध उसने पहले से ही कर लिया था। लिली का दफ़्तर बड़े दिनों मे यों ही बन्द रहता था। दिसम्बर को हिन्दुस्तानी गिरजे में उनका विवाह हो गया। उसी शाम जोन्स ने अपनी तीन बरस की कमाई जेब में डाली। ह्विस्की की एक बोतल और शादी के फूल बाईं बग़ल में और दाईं

बग़ल में लिली को ले वह अपना 'हनीमून' (मधुयामिनी-सुहागरात) मनाने मंसूरी के लिए गाड़ी पर चढ़ गया।

मंसूरी में युगल जोड़ी का स्वागत करने वाला कोई न था। उन्हें इसकी ज़रूरत भी न थी। उन्हें ज़रूरत थी एकान्त की। उनके नेत्र एक दूसरे की छवि से भरपूर थे। ग़ैर सामने पड़ जाने पर भी उन्हें दीखते न थे। दीखते भी थे तो यों ही, अकिंचन निरर्थक आकृतियों की भाँति।

दोपहर बाद की लारी से जिस समय प्रेमी युगल किनक्रेग में मोटर से उतरे, उन्हें किसी की प्रतीक्षा न थी। उनका अपना कलरव और कूजन उनके कानों के लिए काफ़ी था। कुली के सिर पर असबाब लदवा, एक-एक हाथ में ब्याह के फूल और दूसरी बाँह एक दूसरे की कमर में डाले वे होटल पहुँचने के लिए चढ़ाई पर चढ़ने लगे। अपने चारों ओर के जड़-चेतन संसार से वे सर्वथा निरपेक्ष थे। जोन्स प्रत्येक वाक्य में तीन बार 'माई लव' (मेरी जान) कहता और लिली 'माई डार्लिङ्ग (मेरे प्यारे) कहकर उत्तर देती।

उनके उत्साह, उमंग और कलरव ने किसी का ध्यान आकर्षित न किया हो; परन्तु हैमिल्टन की चिर-प्रतीक्षित आँखों से वह बच न सका। पिछले दो-ढाई मास में एक ही चीज़ उनके ध्यान में आई थी, और वह था इस नव-दम्पति का आह्लाद! वे कौतूहल से उनकी ओर देखने लगे और देखते-देखते प्रेमीयुगल के पीछे चलने लगे। नव-दम्पति की लटपटी चाल और बूढ़े के लड़खड़ाते क़दमों में विशेष अन्तर न था। वे अपने में मस्त और यह उनमें मस्त चले जा रहे थे।

नव-दम्पति के इस उल्लास ने बूढ़े हैमिल्टन के सोये हुये मस्तिष्क

की शिराओं को सचेत कर दिया। तीस वर्ष पूर्व की एक स्मृति ताज़ी हो गई, जब वे मिसेज़ रोज़-हैमिल्टन की बाँह में बाँह डालकर, दूसरे हाथ में फूलों का गुलदस्ता लिए, गिरजाघर से लौटे थे·······

रोज़ !·······जवानी की बसन्त में फूटती हुई कली। उभरे-उभरे गाल, कटहल के कोए सी बड़ी-बड़ी सफ़ेद आँखें, जिनमें प्रेम के नशे ने गुलाबी डोरे डाल दिए थे। उसका वह उज्ज्वल ताँबे का सा प्यारा रंग जिसमें से ललाई फूटी पड़ती थी। उसका स्वस्थ गदबदा शरीर ! हैमिल्टन को इस समय भी अपनी आँखों के सामने दिखाई दे रहा था। सामने जाती हुई बेख़बर पुलकित जोड़ी में उन्हें स्वयं अपना और रोज़ का तीस वर्ष पूर्व का जीवन दिखाई दे रहा था। उस स्मृति ने उनके शिथिल क़दमों में स्फूर्ति पैदा कर दी। पुनः जाग उठे, सम्मुख जाते हुए अपने यौवन के चित्र को वे अपनी आँखों से ओझल नहीं होने देना चाहते थे। वे नव-दम्पति के पीछे उनके होटल तक पहुँच गए।

जब नव-दम्पति असबाब कमरे में छोड़, अस्त होते सूर्य का दृश्य देखते हुए चाय पीने के लिये होटल के दुमंज़िले बरामदे में बैठे, तब भी हैमिल्टन की धुँधली दृष्टि उसी ओर थी। उनकी निर्बल आँखों के लिए कनखियों से देखना सम्भव न था, इसलिए वे घूर-घूरकर देखने का यत्न कर रहे थे। जब चाय के बाद लिली क्लेरियोनेट बजाने लगीं और जोन्स नारंगी खाने लगा, तब भी हैमिल्टन धुँधले प्रकाश में अपनी धुँधली दृष्टि को उनके उल्लास के दृश्य तक पहुँचाने का यत्न कर रहे थे। लिली और जोन्स आत्म-लीन और आत्म-तुष्ट थे। संसार की ओर उनका ध्यान न था। परन्तु हैमिल्टन का ज़िद्द

कर घूरना उनके ध्यान से भी न बच सका। लिली ने जोन्स से शिकायत की—"यह कौन बेहूदा हमें घूर रहा है ?"

"होगा कोई····माँगनेवाला होगा।"—जोन्स ने बेपरवाही से कहा।

कुछ मिनट और गुज़र गए। लिली ने फिर कहा—"देखो तो, वह तो बुरी तरह घूर रहा है।"

"ऊँह, कोई पागल होगा।"—जोन्स ने उत्तर दिया, और साथ ही पागल के पागलपन से दिल बहलाव करने के लिए हैमिल्टन पर नारङ्गी के छिलके फेंकने लगे।

आसपास गिरते हुए वे छिलके हैमिल्टन की दृष्टि में न पड़ सके और यदि वे उन्हें देख पाते तो शायद प्रेम के फूल समझकर उन्हें चूम लेते। कितनी ही देर तक लिली और जोन्स हैमिल्टन पर नारङ्गी के छिलकों से असफल चाँदमारी करते रहे। उनकी वह पुलक भरी किलकारियाँ हैमिल्टन को संतोष दे रही थीं। उनके तीस वर्ष पूर्व के जीवन के चित्र के रंगों को और भी चोखा कर रही थीं।

जब सर्दी और अन्धकार ने लिली और जोन्स को उनके विवाहित जीवन के अधिकार की बात याद दिलाई और वे बन्द किवाड़ों की ओट लुप्त हो गए, तब हैमिल्टन भी उत्साह के पुनरुत्थान को हृदय में लिए रात बिताने अपने बसेरे की ओर लौटे।

ढीली खाट पर पड़े हैमिल्टन सोच रहे थे, कल बड़े दिन का शुभ पर्व है। तीस वर्ष पूर्व उन्होंने रोज़ के लिए बड़े दिन का उपहार ख़रीदा था और फिर तीस वर्ष तक लगातार वे बड़े दिन का उपहार ख़रीदते रहे तो इस वर्ष वे क्यों न ख़रीदेंगे ?

तीस वर्षों में आयु बढ़ने के साथ-साथ रोज़ के रूप का परिवर्तन उनकी आँखों के सामने आने लगा। परन्तु तब भी तो उपहार ख़रीदा ही गया था।.......और फिर रोज़ का उन्हें छोड़ जाना.......मंसूरी के एकान्त में शान्ति और विश्राम की खोज.......और फिर यह नव-दम्पति.......!

तीस वर्ष पूर्व की रोज़ एक बार फिर स्फुटोन्मुख ताज़ी कली की तरह, जिसकी पँखुड़ियाँ अभी पूरी-पूरी न खिल पाने से अपने हृदय को प्रकट न कर पातीं, उनके सामने आ खड़ी हुई। करवटें बदलते रात गुज़र गई। सुबह उठ जाड़े में भो खुली रहने वाली लण्ढौर के देसी बाज़ार की दुकानों से बड़े दिन का उपहार, एक बढ़िया शाल, ख़रीद बग़ल में दबाये, बिना कुछ सोचे-समझे, वे उसी होटल की ओर लपके चले जा रहे थे।

परन्तु यौवन की पूजा का वह अर्घ्य देवता के चरणों तक पहुँचे किस प्रकार ? वे लोग जोन्स और लिली—सुबह की धूप में बैठे दुनिया को भूल रहे थे। यहाँ तक कि गिरजा घर के घण्टे की थर्राती हुई गम्भीर पुकार भी उन्हें सचेत करने में असमर्थ थी। जोन्स कभी ह्विस्की के गिलास से और कभी उससे भी अधिक मादक, लिली के होठों से मद के घूँट भर रहा था और लिली कभी टाफ़ी (अंग्रेज़ी मिठाई) का और कभी जोन्स के ओठों का रस ले रही थी। उन्हें दुनिया की पर्वाह न थी और न किसी का दख़ल मंज़ूर था।

लिली ने मुँह बनाकर कहा—"यह देखो, कल वाला पागल आज फिर घूर रहा है।'

जोन्स ने उस पागल को भगाने के लिए ताली बजाकर शोर किया—"हुश ! हुश !"

इस पर भी जब पागल को होश न आया तो जोन्स ने टाफ़ी लेकर मज़ाक़ से पागल पर चाँदमारी शुरू की। जोन्स पूरी शक्ति से वह टाफ़ी मार रहा था परन्तु काग़ज़ में लिपटी रहने के कारण हल्की टाफ़ी हवा में उड़-उड़ जाती। इस खेल से लिली किलकिलाकर हँस रही थी। प्रेयसी के सम्मुख निशाना चूक, जोन्स का मज़ाक क्रोध में बदलता जा रहा था। पड़ोस के होटलों के चौकीदार और बहरे नीचे घाम सेंकते हुए नशे में मस्त काले साहब और पागल का खेल देख देखकर हँस रहे थे। और हैमिल्टन सोच रहे थे, ऊँची डाल पर टहकती कलियों की उस जोड़ी तक, प्रेम कूजन करते हुए पक्षियों के उस जोड़े तक उनका उपहार किस तरह पहुँचे ?

जब टाफ़ी समाप्त हो गई तब असफलता की उत्तेजना में जोन्स ने टाफ़ी का ख़ाली डिब्बा उठाकर पागल पर फेंका। अपने वज़न के कारण हवा को चीरता हुआ वह डिब्बा ठन से पागल के सिर पर आ गिरा और पागल बेख़बर हो ज़मीन पर गिर पड़ा।

काले मेम और साहब की यह गुस्ताखी कहाँ तक बर्दाश्त की जा सकती थी ? लोगों ने शोर मचा दिया। चौराहे पर धूप सेंकता हुआ सिपाही सरक कर होटल तक आ पहुँचा।

काले साहब को शरारत का मज़ा चखाने के लिए लोग उतावले हो रहे थे। धमकियों के उस शोर में जोन्स के होश ठिकाने आ गए। दुमंज़िले के बरामदे से उसे ज़मीन पर उतरना पड़ा और उसके पीछे-

पीछे लिली हाँफती हुई उसकी रक्षा करने के लिए आई।

हैमिल्टन के पृथ्वी पर लेटे हुए शरीर को घेरकर शिक़ायत और धमकियों का शोरगुल हो रहा था। जोन्स और लिली घबरा कर पागल के चेहरे की ओर देख रहे थे। उस पागल के शरीर पर भले आदमियों जैसे कोट-पतलून होने से स्थिति और भी गम्भीर हो रही थी।

कुछ देर में पागल ने करवट बदली, आँखें झपकीं और आखें खोल दीं। इतने लोगों को अपने चारों ओर खड़े देख वह विस्मित हो गया।

टाफ़ी का ख़ाली डिब्बा पागल को दिखाकर पुलिस कान्स्टेबल ने पूछा—"तुमको साहब ने मारा ?"

पागल आस-पास खड़े लोगों के चेहरों की ओर देख परिस्थिति समझने की कोशिश कर रहा था। उसे होश में लाने के लिए कान्स्टेबल ने उसके कोट पतलून और टोपी के आदर से फिर प्रश्न किया—'साहब, तुम इधर क्यों आया ?'

इस प्रश्न से पागल बगल के पैकेट को सँभालते हुए उठ खड़ा हुआ। सामने बाँह में बाँह डाले खड़े नव-दम्पति की ओर देख, उन्हें पहचान सलाम कर वह बोला—"बड़ा दिन मुबारक !····यह बड़े दिन का उपहार आपके लिए········!"

पागल की सहायता के लिए इकट्ठे होने वाले सहृदयों के लिए निराश होकर टल जाने के सिवा चारा न था।

चार

दूसरी नाक

लड़के पर जवानी आती देख जब्बार के बाप ने पड़ोस के गाँव में एक लड़की तजवीज़ कर ली। लेकिन जब्बार ने हस्बा की लड़की शब्बू को जो पानी भर कर लौटते देखा, तो उसकी सुध-बुध जाती रही।

जैसे कथा कहानी में कहा जाता है कि शाहज़ादा नदी में बहता हुआ सोने का एक बाल देख सोने के केशधारी सुन्दरी के प्रेम से आहत महल की अटारी में उपवास कर लेट गया था; बहुत कुछ वैसा ही हाल जब्बार का भी हुआ। मुँह से तो कुछ कह न सका पर शिथिल शरीर, चेहरे का रङ्ग उड़ा हुआ, कुछ खोया-खोया सा वह रहने लगा।

माँ-बाप ने उसकी हालत देखकर सलाह की। मुँह-दरमुँह नहीं पर उसे सुना दिया कि ब्याह जल्दी ही उसका हो जायगा। लड़की भी बच्चा नहीं, बिलकुल जवान है। शमसल की बड़ी बेटी जहुन्ना आस-पास के चार गावों में एक ही लड़की है। पानी का बड़ा मटका सिर पर उठाकर धमकती दो मील चली जाती है। घर भर का काम

सँभालती है अभो से ! यहाँ आ जायगी तो जब्बार की माँ को भी चैन मिलेगा । बूढ़ी हो गई बेचारी । पर जब्बार को इससे कुछ तसल्ली न हुई । वह अक्सर लम्बी-लम्बी आहें खींचकर चुपचाप पड़ा रहता ।

एक रोज़ माँ ने आँखों में आँसू भर अपनी कसम धराकर पूछा—तो उसने सच कह दिया । जहुला की बात सुनने से भी उसने इनकार करके कहा—"यातो हस्बा की बेटी शब्बू, नहीं तो बस !....कुछ नहीं ।"

माँ-बाप ने बहुत समझाया । उसे सुनता देखते तो आपस में जहुला की तारीफ़ और शब्बू की निन्दा करने लगते । फिर जो लोग ऐसी बेशर्मी से ब्याह करते हैं उनकी कितनी निन्दा होती है, यह सब वे लड़के को काकोक्ति, अलंकार और रूपक द्वारा समझाकर हार गए । पर धुन का पक्का जब्बार न माना तो न माना ।

बेटे की जिद्द से हार मान बूढ़ा गफ़्फ़ार एक रोज़ हस्बा से बात करने गया । जब वह लौटकर आया तो क्रोध से उसकी आँखें लाल और ग्लानि से चेहरा विरूप हो रहा था । बन्दूक कोने में रख, कन्धे की चादर जमीन पर फेंक वह जमीन पर ही बैठ गया ।

जब्बार की माँ ऊँटों को बेरी की पत्तियाँ खिला रही थी । तुरन्त बूढ़े के समीप दौड़ी आई । जब्बार दूर से ही उत्सुक कान लगाए था । बूढ़ा मानो फट पड़ा—"ऐसे नालायक बेटे से बेऔलाद भला !"

जब्बार की माँ ने घबराकर बेटे की बलायें अपने सिर लेते हुए नाक पर हाथ रख कर पूछा—"हाय-हाय ! हुआ क्या ?"

बूढ़े ने कहा—"होगा क्या ? ऐसे बेशरम बेग़ैरत लड़के से और होगा

क्या ? तमाम इज़्ज़त ख़ाक में मिल गई और घर मिट्टी में मिल जायगा।"

माँ ने फिर बलायें लेकर पूछा—"हाय हुआ क्या ? ऐसा क्यों कहते हो !"

बाप ने कहा—"अगर इसके ऐसे ही मिजाज थे तो यह क़लात के ख़ान के यहाँ पैदा क्यों नहीं हुआ ? जानती है, हस्बा ने क्या कहा ? सीधे मुँह से बात भी न की। कहती है, शब्बू की बात तुम मत सोचो। उसे वह ब्याहेगा जो अढ़ाई सौ रुपये की गठरी बाँधकर लाएगा।"

अढ़ाई सौ रुपए की बात सुन जब्बार की माँ की आँखें ऊपर चढ़ गईं। बूढ़ा बोला—"तू भी बूढ़ी होगई। तू ही बता—तूने कभी ऐसा तूफ़ान सुना है; उमर में ?....अढ़ाई सौ रुपये !....कोई चीज़ ही नहीं होती ? शमसल से मैंने जहुआ के लिए बात की थी। उसने लड़की के अस्सी माँगे थे, आख़िर साठ पर तैयार है। उसकं लड़की भी एक आदमी है। और वह बदजात माँगता है—अढ़ाई सौ। और फिर तू बूढ़ी हो गई; तू ही बता, रंग ज़रा मैला हुआ तो क्या, और ज़रा साफ़ हुआ तो क्या ? औरत औरत सब एक। तुझे अपने काम से मतलब कि रंग से ? अभी छः महीने नहीं हुए इसके लिए बन्दूक़ ख़रीदी थी तो वह ऊँट बेंचा था। अढ़ाई सौ रुपए उमर भर में कमा तो पाएगा नहीं और शान यह है ! अच्छा तू ही बता—इतनी बूढ़ी हुई, अढ़ाई सौ रुपये कभी औरत के दाम सुने हैं ?....अढ़ाई सौ रुपये में तो फ़िरंगी की तोप ख़रीदी जाती है।"

जब्बार ने सुना और आह को सीने में दबाकर करवट बदल ली।

× × ×

एकलौते बेटे का यों दिन-रात बिसूरना माँ-बाप से देखा न गया। बूढ़े ने कहा—"मेरा क्या है? पका फल हूँ! कब टपक पड़ूँ? जो कुछ है इसी के लिए है। रोज़ी का सहारा ये दो ऊँट हैं ये भी जायँगे तो फिर खुदही फिरंगियों की सड़क पर रोड़ी कूटने की मज़दूरी करेगा। लोग यही कहेंगे कि गफ़्फ़ार का बेटा मज़दूरी करने लगा, सो इसकी क़िसमत! मैं क्या सदा बैठा रहूँगा?"

आख़िर दोनों ऊँट भी बन्नू के बाज़ार में बेच दिए गए और शब्बू जब्बार की बहू बन के घर आ गई।

शब्बू को इस बात का कम गर्व नहीं था कि उसकी कीमत गिन कर अढ़ाई सौ रुपए चुकाई गई है। पानी भरने जाती तो आधा ही घड़ा लेकर लौटती, वह भी लचकती, बल खाती। पड़ोस की मीरन ने समझाया—"ऐसा नख़रा ठीक नहीं। मर्दों को काम प्यारा होता है। किसी रोज़ ऐसी मार पड़ेगी कि कमर सदा को लचक जायेगी।"

अपनी कान तक फैली आंखें मटका कर और हाथ का अँगूठा दिखाकर शब्बू ने कहा—"ओहो! मेरे बाप ने बारह बीसे और दस रुपये गिन कर मुझे मार खाने को ही तो यहाँ भेजा है? कोई मुझे हाथ तो लगाए? तेरा क्या है? तेरे मर्द ने तीन बीसे में तुझे लिया है।........लँगड़ी लूली हो जायेगी तो एक और सही।"

ग़ज़ब की शोख़ और शौकीन थी शब्बू! वह काले मख़मल की वास्कट पहरती जिसकी सिलाइयों पर सीप के तीन सौ बटन टँके थे। अपने बालों में मक्खन लगाती और बाहर जाने से पहले पानी का हाथ लगाकर उन्हें सँवार लेती। महीने में दो-दो बेर अपने बाल धोती।

जब्बार की माँ यह सब देखती और नाक पर हाथ रख पड़ोसिन से कहतीं—"देखो तो, अढ़ाई सौ रुपए देकर ब्याह किया पर मुझे क्या आराम मिला ? इसे तो अपने नख़रों से ही छुट्टी नहीं।"

×   ×   ×   ×

बूढ़े ने बेटे को समझाया "जवानी की तेरी उमर है। कुछ कमाई अब नहीं करेगा तो कैसे निबाह होगा। यों घर बैठा रहना क्या तुझे सोहाता है ! रोज़ी का एक ज़रिया मेरे ऊँट थे, सो तेरे ब्याह में ख़तम हो गए। अब भी तू कुछ नहीं करेगा तो क्या मैं परदेस जाकर मज़दूरी करूँगा ?

मन मार कर जब्बार को कमाई करने बन्नू जाना पड़ा, लेकिन मन उसका गाँव में ही रहता। पूरा सप्ताह जब्बार को बन्नू गए नहीं हुआ था कि वह शब्बू की याद से बेकल हो एक दिन आधी रात में उठ अपने गाँव को चल दिया।

सोलह मील चलकर जब उसे ऊषा की अस्पष्ट लाल आभा में पहाड़ी पर अपने गाँव की छतें दिखाई दीं तो वह ठिठक गया। अपने गाँव की क्रुद्ध मूर्ति और पड़ोसियों की लांछना के विचार ने उसके पैरों में बेड़ियाँ डाल दीं। वह एक चट्टान पर बैठ अपने घर के दरवाज़े की ओर देखने लगा। उसने सोचा— पानी भरने शब्बू निकलेगी तब वह उसे एक आँख देख सकेगा। बावड़ी पर चलकर बैठूँ, शब्बू पानी भरने आयेगी तो उससे दो बातें करके लौट जाऊँगा।

शब्बू पानी लेने आई तो दो सहेलियों के साथ। जब्बार तीस कदम पर एक पत्थर की ओट में बैठ धड़कते हुए दिल से देखता रहा पर एक शब्द बोल न सका। बोलता कैसे ? वह दोनों पड़ोसिनें बदनाम

कर देतीं। दिल पर पत्थर रखे जब्बार देखता रहा, शब्बू सहेलियों से चुहल करती, मटकती लौट गई। जब्बार आहें भरता बन्नू लौट गया।

जब्बार के विरह की आग में ईर्षा का घी पड़ गया। उसने सोचा देखो, मैं यहाँ परदेश में अकेला मर रहा हूँ और वह मौज करती है। उसे मेरा ज़रा भी ग़म नहीं। औरत की जात में वफ़ा नहीं होती।

आठ दस दिन बाद वह फिर रातों रात सफ़र कर शब्बू को एक पलक देख सकने और एक चुम्बन पा सकने की आशा में गाँव की बावली पर आकर बैठ गया। परन्तु वह अकेली नहीं आई। पड़ोस की तीन सहेलियों के साथ अठखेलियाँ करती आई। जब्बार उनकी बात को कान लगाकर सुन रहा था।

मीरन ने शब्बू की ठोड़ी छूकर कहा—"हाय रे तेरा नख़रा। गाँव के छैले तुझ पर जान दे रहे हैं, क़सम तेरे सिर की!"

शब्बू के चेहरे पर गर्व से सरूर छा गया। वे पानी लेकर लौट गईं। जब्बार की छाती पर मानो सौ मन का पत्थर आ गिरा, पर बेबस था।

अब उसके मन में सन्देह का अंकुर और जमा। सन्देह मनुष्य के हृदय में आकाश बेल की तरह बढ़ता है। उसके लिए जड़ या बुनियाद की भी ज़रूरत नहीं। वह कल्पना के आकाश में ही पुष्ट होता है। सन्देह को निश्चय का रूप लेते भी देर नहीं लगती।

गाँव में ऐसे कई लौंडे लुँगाड़े थे, जिन्हें फ़ितूर के अलावा कुछ काम न था। रहमान और अब्बास से हर एक बात की आशा रखी जा सकती थी। और फिर यदि कुछ दाल में काला नहीं है तो मीरन ऐसी चर्चा क्यों कर रहीं थी? और शब्बू की यह चटक-मटक किसके

लिए है ? देखो, उसे मेरा ज़रा भी ग़म नहीं। और मैं मरा जा रहा हूँ ! जब्बार लहू के घूँट पी-पी कर रह जाता।

उसने सोचा, रुपया कमाने के लिए ही तो वह घर से दूर यहाँ पड़ा है। यों आठ आने-दस आने रोज़ में रुपया नहीं कमाया जा सकता। घर लौटने की आग ने उसे बावला कर दिया। एक दिन मौका देख उसने एक हाथ मार ही दिया। किसमत अच्छी थी। वह पकड़ा भी नहीं गया और डेढ़ सौ रुपया कमाकर डेढ़ महीने में घर लौट आया। जब्बार के बाप को हौसला हो गया, बेटा भूखा नहीं मरेगा।

× × ×

जैसे नील का दाग कपड़े को नही छोड़ता वैसे ही जिस मन में सन्देह एक बार प्रवेश कर जाता है, उसे छोड़ता नहीं। जब्बार ने शब्बू से पूछा—"क्यों ? जब मैं बन्नू में था तो खूब मज़े उड़ते थे ?"

शब्बू भी निरी मज़दूरिन न थी। चमक कर उसने पूछा—"कैसे मज़े ? किससे मज़े उड़ते थे ?"

जब्बार ने कहा—"क्यों गाँव में क्या कम आदमी हैं ? रहमान है, अब्बास है। खूब बनाव-सिंगार से पानी लेने जाना होता था, क्यों ?"

शब्बू ने कहा—"मैंने कभी किसी मरे की तरफ़ आँख उठाकर देखा हो तो मैं मर जाऊँ, नहीं मुझ पर झूठा इलज़ाम लगाने वाला मर जाय !"

जब्बार ने तड़प कर पूछा—"तू बन-ठनकर अपना हुसन दिखाने नहीं जाती थी ?"

शब्बू ने उत्तर दिया—"मैं क्यों जाऊँगी दिखाने किसी को ?···· कोई मरा ब्रूरा करे तो मेरा क्या क़सूर ?"

जब्बार ने चुटिया कर पूछा—"तो तू यों बन-ठनकर दिखाने को निकलती क्यों है ?"

अपने सौंदर्य के अभिमान में सिर ऊँचा कर शब्बू ने कहा—"मैं क्या करती हूँ ?····क्या मुँह काला कर लूँ ?····मैं जैसी हूँ, वैसी हूँ।"

जब्बार बड़े यत्न से शब्बू की चौकसी करने लगा। वह शब्बू से सौ क़दम दूर पर भी आदमी देख पाता तो उसे यही सन्देह होता कि वह उससे आँख लड़ा रहा है। कुछ दिन में उसका खाना-पीना हराम हो गया। किसी मुसाफ़िर को गाँव से गुज़रते देखकर भी उसे यह शङ्का होती कि सम्भव है शब्बू के रूप की ख्याति सुनकर ही यह आदमी बहाने से इधर आया है। सारा गाँव उसे शब्बू के पीछे पागल दिखाई पड़ने लगा।

एक रात जब्बार ने शब्बू से पूछा—"आज तू बाहर से लौट रही थी तब राह में मुस्करा क्यों रही थी ?"

उत्तर में शब्बू ने पूछा—"मैं कहाँ मुस्करा रही थी ?"

"जब्बार ने कहा—"और वे सब आदमी खड़े हुए क्यों देख रहे थे ?"

अपने रूप को महिमा के संकेत से पुलकित होकर शब्बू ने उपेक्षा से उत्तर दिया—"मैं कया जानूँ ?"

होंठ काटकर जब्बार ने कहा—"बहुत घमंड होगा हुसन का !···· नाक काट लूँगा ?"

शब्बू का मन गुदगुदा उठा। उसने कह दिया—"बारह बीसे और दस रुपये की नाक है !" और मन-मन मुस्कराने लगी।

शब्बू सो गई। परन्तु जब्बार की आँखों में नींद कहाँ। उसने पुकारा—"सुन तो !" उत्तर नदारद।

जब्बार ने सोचा—देखो तो घमण्ड इसका !········मैं बेचैन पड़ा हूँ और यह मज़े में सो रही है। यह सब घमण्ड हुसन का है। इसी हुसन के पीछे गाँव के बदमाश पागल हैं। मेरी क्या आबरू है ? अगर यह हुसन न होता तो क्या मेरी आबरू यों मिट्टी में मिलती ?····ऐसे हुसन से क्या फायदा ?

गम्भीर होकर इस समस्या पर विचार कर उसने सोचा—आबरू नहीं तो कुछ नहीं। और यह हुसन तो सब लोग देखते हैं। मेरा इस पर क्या क़ब्ज़ा ? जब तक यह हुसन रहेगा तब तक मुझे आबरू और चैन कहाँ मिल सकता है ?

रात के सन्नाटे में जो विचार उठते हैं वे बहुत उग्र होते हैं। दिन की तरह उस समय विचारों को बाधित करने वाली सैंकड़ों उलझनें नहीं रहतीं। इसी लिए भक्त समाधि रात में लगाते हैं, क़ातिल क़त्ल रात में करते हैं और चोर चोरी रात में करते हैं और विरही भी रात में ही पागल हो उठते हैं।

जब्बार अँधेरे में आँख खोले शब्बू के रूप के कारण होने वाले सब अनर्थ पर विचार कर रहा था। वह अनर्थ उसे अपरिमेय जान पड़ा। उसे सहन करना बिलकुल सम्भव न था।

उसने सिरहाने से पैना छुरा उठाया और अँधेरे में टटोल कर

शब्बू की नाक पकड़ ली। एक ही झटके में नाक काटकर उसने फेंक दी।

शब्बू चीख़ उठी। जब्बार की माँ उठकर दौड़ी। रोशनी जलाई गई। पड़ोस के लोग दौड़ आये। जब्बार का बाप ग़ुस्से में गालियाँ दे रहा था और दूसरे लोग इलाज बता रहे थे। एक बुढ़िया ने चिल्ला कर कहा—"अरे जल्दी से कोई भेड़ बकरी का ताज़ा, गरम-गरम, ज़िन्दा गोश्त का टुकड़ा काटकर नाक पर रखो नहीं तो लड़की मर जायगी !"

जब्बार की माँ ने घबराकर कहा—"इस वक्त भेड़-बकरी कहाँ ?"

बुढ़िया ने उत्तर दिया—"तो तुम जानो।"

जब्बार खड़ा सुन रहा था। शब्बू की नाक उसने इसलिए काटी थी कि वह केवल उसी की होकर रहे। दूसरों की आँख उस पर पड़ना भी उसे सह्य न था। वह शब्बू को केवल अपने ही लिए रखना चाहता था। दूसरे की आँख उस पर पड़ने से उसके दिल पर घाव लगता था। उसके मर जाने की सम्भावना सुन उसका दिल दहल गया।

ज़िन्दा गरम गोश्त नहीं मिलेगा तो क्या.......! उसने वही पैना छुरा उठाया और अपनी जाँघ से ज़िन्दा गरम गोश्त का टुकड़ा काट कर शब्बू की नाक पर धर दिया। जब्बार के माँ और बाप बिलकुल पागल हो बैठे और दूसरे लोग हैरान रह गये।

× × ×

शब्बू चेहरे पर घाव के दर्द के मारे खाट पर पड़ी कराहती रहती

और जब्बार जाँघ में पट्टी बाँधे खाट की पटिया पर बैठा शब्बू के चेहरे पर से मक्खियाँ हाँका करता। ज़ख्म के कारण शब्बू का तमाम चेहरा सूझ गया। पानी का घूँट तक निगलना उसके लिए दूभर हो गया, तिस पर बुख़ार! यह हालत देखी तो जब्बार ने उसका इलाज बन्नू के फिरंगी डाक्टर वाले अस्पताल में कराने का निश्चय किया। स्वयं बड़ी कठिनाई से वह चल पाता था परन्तु एक रात जब सब लोग सो रहे थे, उसने शब्बू को कन्धे पर उठा लिया और बगल में लाठी ले वह बन्नू के लिए चल पड़ा।

वह कुछ दूर चलता और सुस्ता लेता। कपड़ा भिगोकर पानी की बूँदें शब्बू के मुँह में टपकाता जाता। पाँचवें दिन वे लोग बन्नू के अस्पताल में पहुँच गये। बीस रोज़ में शब्बू का ज़ख्म भर पाया और उसकी तबीयत ठिकाने आई।

× × ×

नाक न रहने पर हवा होठों की अपेक्षा नाक के छेद से अधिक निकल जाती है और स्वर बिलकुल नक्की (प्लुत अनुस्वार) हो जाता है। उसी स्वर में मिनमिना कर शब्बू ने कहा—"मेम साहब कहती हैं विलायत से रबड़ की नाक मँगवाई जा सकती है।"

जब्बार ने घबराकर उत्तर दिया—"बस रहने दे। हमें नाक नहीं चाहिए। मुझे तू बिना नाक के ही भली मालूम होती है। तुझे क्या नाक औरों को दिखानी है?"

शब्बू उदास हो गई। उसने खाना खाने से इनकार कर दिया।

जब्बार के लिए बड़ी भयंकर समस्या आ पड़ी। उसने सोचा—

बुरा हो इस मेम का। मैंने एक नाक काटी थी, वह दूसरी बनाने को तैयार है।

जब दो दिन शब्बू ने खाना नहीं खाया तो जब्बार ने रबड़ की नाक की कीमत चालीस रुपए डाक्टर के यहाँ जमा करादी। पर शर्त एक रही कि शब्बू नाक लगायेगी ज़रूर लेकिन ग़ैर मर्द अगर उसे घूरने लगे तो झट नाक उतार कर जेब में डाल ले।

पाँच

मोटरवाली-कोयलेवाली

अगहन मास में जो 'भागसू' जाकर रहेगा, वह या तो डाक्टर के आदेश से या फिर संसार से विरक्त होकर। वर्मा निश्चय ही दूसरे कारण से जाड़े में उजड़ी हुई भागसू की बस्ती में एक मकान लेकर रह रहा था। विरक्ति के लिये कारण भी कुछ कम न था।

वह वक़ालत की बे-मेहनत की पढ़ाई कर रहा था। किसी ज़रूरत से नहीं; यह ताऊजी का आदेश था। वह अपने पिता की सन्तान था सही परन्तु सभी लोग उसे निस्सन्तान ताऊ का ही पुत्र समझते थे। बीस वर्ष हो गये, तभी सब लोग समझ गये थे कि लाला बिहारीलाल की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी वर्मा ही होगा। इसीलिये उसका पोषण शिक्षा दूसरे भाइयों से कुछ भिन्न, ज़रा बड़े आदमियों के ढंग से हुआ था।

लोग ग़लत नहीं कहते,—"माया को माया मिले, कर कर लम्बे हाथ।" वर्मा अभी गवर्मेण्ट कॉलिज के तीसरे वर्ष में पढ़ रहा था कि लाला भानामल ने वर्मा को रूपा के लिए वर निश्चित कर लिया।

रूपा 'गर्ल्स स्कूल' की नौवीं श्रेणी में पढ़ती थी। वर्मा ने उसे देख लिया था। जब तब वह गर्ल्स स्कूल के मार्ग में, टाउनहाल के बायीं ओर के पेड़ों के नीचे, किताब लेकर टहलने लगता था। रूपा के मोटर के भोंपू की आवाज़ से वह परिचित था और मोटर का ड्राइवर वर्मा को देख सहानुभूति से हार्न बजा देता।

पुरानी कहावत है, "मछली को तैरना कोई नहीं सिखाता।" वैसे ही चढ़ती उम्र की कामिनी को प्रणय के पैंतरे सिखाने नहीं पड़ते ; वे उन्हें प्रकृति सिद्ध होते हैं। वर्मा को देखकर रूपा अपनी पतली सी देह मोटर के कोने में छिपा स्कूल की कापियों से आड़ कर केवल आँख भर की जगह बचा लेती। भले आदमी कहते हैं, संकोच शील का लक्षण है। हम इस बात का विरोध नहीं करेंगे ; क्योंकि भले आदमियों की जमात से अपना नाम ख़ारिज हो जाने का भय है। परन्तु इतना कह देने में कोई हरज़ न होगा कि संकोच प्रणय पर सान चढ़ाने का भी अच्छा उपाय है और फिर जैसे हाथ में टुकड़ा लेकर कुत्ते का दुम हिलाना देखने में अच्छा लगता है ; वैसे ही........ 'नारी' के लिये 'पुरुष' का व्याकुल होना ही 'नारी' के रूप और गुण के परिमाण की कसौटी है। जिस नारी के लिये किसी पुरुष का हृदय चाह की आग में नहीं धधका, उसका नारीत्व बेकार है। रूपा को सन्तोष होता था........।

हम शायद यह कहना भूल गये कि रूपा पिता की एकमात्र पुत्री थी। लाला भानामल ने रेल की पटरी बिछाने की टेकेदारी में बहुत रुपया कमाया था। उनका विचार था कि योग्य वर से कन्या का

विवाह कर सब कुछ उसे सौंप, उन्हें सब प्रकार की चिन्ता से मुक्त कर देंगे। वर्मा को दो कारणों से उन्होंने योग्य वर चुना था। एक तो वह लाला बिहारीलाल के अनेक पहाड़ी बंगलों और विदेशी कम्पनियों में उनके 'शेयरों' का भावी स्वामी था। दूसरे वह स्वस्थ, सुशील और बुद्धिमान युवक था। सगाई की रस्म अदाकर वर्मा को रिज़र्व कर लेने की आवश्यकता लाला भानामल ने न समझी क्योंकि बड़े आदमियों में मुँह की बात ही पर्याप्त होती है।

रूपा स्कूल के मार्ग में स्कूल की कापी की आड़ कर वर्मा को जलाती थी परन्तु रूपा की माँ वैसी निठुर न थीं। तीज-त्यौहार के दिन वे वर्मा को निमंत्रित करतीं। स्वयं अपने अध्यवसाय से थोड़ी पंजाबी (गुरुमुखी) के अतिरिक्त वे कुछ पढ़ न पायी थीं इसलिये इकलौती प्यारी बेटी की अंग्रेज़ी विद्या का उन्हें अपरिमित गौरव था। निमंत्रण के कार्य-क्रम का अन्त प्रायः होता रूपा की किसी सोजनकारी या स्कूल की कापी का वर्मा को दिखाया जाना। अजाने में वे कभी ज्योमिट्री या भूगोल के नक़शों की ही कापी दिखा देतीं जिसमें अंग्रेज़ी टाइप के मोटे-मोटे अक्षरों में, प्रत्येक पृष्ठ पर लिखा रहता—आर-ओ-ओ-पी-आर एन-आई (रूपरानी)। बेटे के अभाव में वे भावी जामाता को बुलाकर अपना लाड पूरा कर लेतीं। उस समय लजीली लड़की आँचल में मुख लपेट बिछौने पर जा लेटती और उसका हृदय मोटर साइकिल के इंजन की तरह फट-फट करने लगता।

वर्मा ने अपने भविष्य जीवन के मनोरम चित्र तैयार किये थे। किसी मनोरम पहाड़ी स्थान में बंगला सजाकर वह रहेगा। उस

मनोरम एकान्त में रूपा और वह....। कितने मोहक और मादक थे वे चित्र!

जिस समय वह वक़ालत के पहले वर्ष में पढ़ रहा था और विवाह में केवल रूपा के एन्ट्रेंस की परीक्षा दे लेने मात्र का व्यवधान शेष रह गया था, वर्मा के ताऊजी को पचपन वर्ष की अवस्था में एक अच्छा मज़ाक सूझा। समाज-सुधार की मिसाल क़ायम करने के लिये इन्होंने एक विधवा से विवाह कर लिया। उस "पुनः सौभाग्य मण्डिता" ने घर आते ही एक वर्ष के भीतर ही लाला बिहारीलाल के लिये एक 'वंशधर' प्रसव कर दिया।

आर्यसमाजी पण्डित ने इस पुत्र का नाम वैदिक रीति से 'वंशधर' रख कर वर्मा के प्रति विधना की विडम्बना को पूर्ण कर दिया। इस नवागंतुक ने वर्मा के भाग्य को अपने निर्बल हाथों से समेटकर निगल लिया। वर्मा ने उसकी विशेष चिन्ता न की। उसने बेपरवाही से कहा—ऐसी सम्पत्ति का वह भूखा नहीं। वास्तव में उसे रूपा के साथ ही मिलने वाली, लाला भानामल की सम्पति का बहुत आसरा था। लेकिन वर्मा के भाग्य के साथ ही साथ लाला भानामल का दिमाग़ भी फिर गया। हाल में विलायत से पास होकर आये, एक रियासत के दीवान के पुत्र के यहाँ रूपा का तिलक भेज उन्होंने विवाह का दिन भी निश्चित कर लिया।

मन की ऐसी अवस्था में वकालत की परीक्षा की तैयारी करना वर्मा के लिये सम्भव न रहा। एक अत्यन्त दुरूह विरक्ति ने उसके मन को दबा लिया। एक भी शब्द उसने किसी के विरुद्ध नहीं कहा। बल्कि एक तरह से उसने मुँह खोलना ही छोड़ दिया। मन की ग्लानि और

उदासीनता से पुत्र को बचाने के लिये वर्मा के पिता ने उसे घूम आने की अनुमति देदी। इसी सिलसिले में वह भागसू में आकर रह रहा था।

जाड़े के दिनों में भागसू की दुकानें प्राय: बन्द थीं और सड़कें सूनी। प्रात:, मध्यान्ह-संध्या किसी भी समय वह बाहर निकल पड़ता और सड़क के किनारे किसी बड़े से पत्थर पर बैठा-बैठा धूप सेंकता रहता। कभी उसकी दृष्टि वृक्षों की शाखाओं पर जहाँ-तहाँ फुदकते हुए पक्षियों की ओर जाती और कभी ढलवान पर चरते हुए पशुओं की ओर। एक-एक दो-दो कर आती-जाती, पीठ पर कोयलों की भारी कण्डी उठाये, पहाड़ी औरतों की ओर भी उसकी नज़र पड़ती। खच्चरों और पहाड़ी बैलों पर बोझ लादकर आने-जाने वाले लोगों पर भी उसकी आँख जाती परन्तु वह उखड़ी-उखड़ी, बहकी-बहकी नज़र कुछ भी न देख पाती। कभी उसके हाथ का सिगरेट समाप्त होकर उसकी उँगलियों को जलाने लगता और तब चौंककर वह उसे फेंक देता और कभी एक कश खींच कर ही सिगरेट को नीचे गहरी ढलवान में चला देता। कभी-कभी कोयलेवाली औरतों के साथ के बच्चे उससे कुछ दूरी पर-खड़े होकर पैसा माँगने लगते। वह कुछ भी न सुनता और सुनता तो चौंककर ऊँचे स्वर में पूछता—'क्या ?' बच्चे घबराकर दूर भाग जाते।

एक दिन बादल घिर आये थे। हवा तीर की तरह चल रही थी। अपने मकान से कुछ कदम उतर वह सड़क के किनारे एक पुलिया की दीवार पर जा बैठा। नीचे बाज़ार में कोयले का बोझ बेच, उसके मूल्य

में कुछ सौदा-सुलफ ले, नल पर मुँह हाथ धोकर एक कोयलेवाली लौट रही थी। छः सात बरस का एक छोकरा उसके आगे-आगे चल रहा था। छोकरा एक हाथ से सिर पर एक छोटी सी पोटली सम्भाले था। वर्मा के सन्मुख खड़े होकर लड़के ने कहा—'पैसा !'

वर्मा ने सुन लिया और पूछा—'क्या ?'

भीरु लड़का सहमकर साथ की जवान लड़की की कमर से लिपट गया। लड़की ने मुस्कराकर निस्संकोच दृष्टि वर्मा की आँखों में डाल, लड़के की पीठ हाथ से सहलाते हुए अपनी बोली में कहा—'डर गया।'

वर्मा ने फिर पूछा—'क्या ?'

वर्मा के हाथ में एक मोटा-सा सिगार जल रहा था। लड़की ने उस ओर संकेत कर दूसरे हाथ की मुट्ठी अपने होटों पर तम्बाकू पीने के ढंग से रख कर कहा—'बाबू चुरुट दे।'

विरक्ति की उस अवस्था में भी इसे न समझना वर्मा के लिये सम्भव न था। परन्तु उसने आश्चर्य से एक बार फिर पूछा—"क्या ?'

उस जवान लड़की ने अपने शरीर को जाड़े के संकेत में सिकोड़कर तम्बाकू पीने का इशारा दोहराते हुए उसी सरलता से या उसी मधुर धृष्टता से उत्तर दिया—'बाबू बड़ा जाड़ा है, चुरुट दे।'

वर्मा ने हाथ का सिगार उसकी ओर बढ़ा दिया। सिगार का कश खींच, खांसकर कृतज्ञता भरी मुस्कराहट से सलाम कर वह युवती सिगार पीती और खांसती हुई सड़क के नीचे ढलवान पर बनी स्लेट से छायी झोपड़ियों की ओर चली गई।

दूसरे दिन पहले पहर की खिलखिलाती धूप सेंकने के लिए वर्मा

फिर उसी पुल पर जा बैठा था। वही समय कोयले वालियों के आने का था। चार-पाँच औरतों के बाद वह जवान लड़की कोयले के बोझ से हाँफती हुई आई। उसके चेहरे पर कोयले की काली गर्द की महीन तह छा रही थी। दोनों कनपटियों और नाक पर से पसीने की बूँदें बहने के कारण गोरे रंग की लकीरें सी पड़ गई थीं। बोझ से वह हाँफती जारही थी। केवल आँखों की मुस्कराहट से सलाम कर वह चली गई।

कुछ देर बाद हाथ का सिगार ख़तम कर वर्मा ऊपर अपने मकान के बरामदे में जा बैठा। उसने देखा उसके पीछे-पीछे उसका पहाड़ी नौकर नीचे बाज़ार से तरकारी लिए चला आ रहा है और उसके पीछे, पीठ पर कोयले की कण्डी लिए, हाँफती हुई वही जवान लड़की।

कोयलेवाली ने मुस्कराकर एक बेर और सलाम किया और पिछवाड़े कोयला छोड़कर वह फिर सामने आई। बायें हाथ से वह पीठ पर लटकती हुई खाली कण्डी की रस्सी सम्भाले थी। मोटे कपड़े की उसकी मैली चादर बेपरवाही से समेट कर उसके सिर पर रखी हुई थी। बदन पर एक मोटा कुरता घुटनों तक, नीचे बिर्जिस नुमा पायजामा और गले में चवन्नियों और मूँगे के लाल दानों की माला उन मालाओं के नीचे सीने का ऊभार मैले कपड़ों में से उठा आ रहा था।

वह जवान लड़की थी, युवती शब्द उसके लिए उपयुक्त नहीं था। क्या जंगल में फिरने वाली जवान हिरनी को भी युवती कहना चाहिए ? अपने शरीर पर यौवन के चिन्हों के प्रति संकोच से वह परिचित न थी। उसकी पिण्डलियों की गोलाई उसके पायजामे से झलक रही

थी। बाँये पैर के अँगूठे से दाँये पैर की एड़ी को सहलाते हुए, दाँये हाथ की हथेली पर आट आने के पैसे दिखा उसने कातर स्वर में कहा—"इतने भारी बोझ के आठ आने ? कुछ बख़शीश मिलता तो·······!"

जेब से एक रुपया निकाल कर वर्मा ने उसकी ओर फेंक दिया। लड़की का चेहरा दमक उठा। प्रसन्नता से चमकती हुई आँखों से विनीत सलाम कर वह चलने को हुई और फिर ज़रा घूमकर उसने मुस्कराते हुए हाथ की मुट्ठी तम्बाकू पीने के ढंग से होठों पर रख कुछ संकोच से कहा—"बाबू एक चुरुट।"

जगनू से एक सिगरेट मँगाकर वर्मा ने उसे दिला दिया। वर्मा कुर्सी पर उसी जगह बैठा रहा। वह सोच रहा था—यह कितनी सरल और निस्संकोच है।

उस जवान कोयलेवाली की आँखें बड़ी-बड़ी थीं, दाँत अनार के दानों जैसे सफ़ेद मोतिया, ओंट पतले-पतले और लाल। उसकी लम्बी सुघड़ नाक के नीचे मुलम्मा का एक छोटा सा बुलाक झूल रहा था। गर्दन उसकी लम्बी, उठी हुई। यह सब कुछ बहुत सुन्दर होने पर भी वर्मा का ध्यान उस ओर न था। सौंदर्य को देखना उसने छोड़ दिया था। वह उसे देख चुका था पर्याप्त! एक ही बात उसकी आँखों के सामने बेर-बेर फिर जाती—वह थी, निष्कपट सरलता। संकोच से सिर झुकाकर दुहरी हो जाने वाली, लज्जा से लाल कन्दील बन जाने वाली शीलवतियों को उसने ख़ूब देख लिया था। उनकी बात तक सोचना अब उसे गवारा न था। लेकिन मनुष्य के दुख को तीव्रतर बनाने के

लिए अदृष्ट का यही योग है कि जिसे विस्मृत कर मन से दूर कर देना चाहते हैं, वह उतना ही अधिक हमारे मन में प्रतिध्वनित होता है। वर्मा विरक्ति से रूपा की स्मृति को दुत्कार देना चाहता था परन्तु वह हठ कर नाना रूप में उसके सामने आ खड़ी होती।

रूपा के प्रति घृणा के इस घने धुन्द में जब वह अपने नेत्र मूँद लेना चाहता था, दूर से प्रकाश का अस्पष्ट सा काँपता हुआ एक बिन्दु उसे दिखाई दिया। घृणा की यंत्रणा से त्राण पाने के लिए वर्मा प्रकाश के उस बिंदु की ओर बढ़ा। उसका आश्रय पाने के लिए उसने हाथ फैला दिए। वह प्रकाश था—वही कोयले वाली, कोयले की धूल से मैली, पीठ पर कण्डी लटकाए, बाँए पैर के अँगूठे से दायें पैर की एड़ी सहलाते हुए, दाँया हाथ आगे बढ़ाए। उसकी वह निष्कपट निस्संकोच सरलता। उसे एक सिगरेट तक माँग लेने में संकोच न हुआ। कैसे विनय से परन्तु निस्संकोच भाव से उसने कहा—"बख़्शीश मिलती तो।"

वर्मा बरामदे में कुर्सी पर शिथिल बैठा रहा। सामने देखता वह सोचने लगा—बरफ़ की उन चोटियों और मनुष्य के कलुषित हाथों से अछूती इस प्रकृति की गोद में रहनेवाले यह लोग कितने निश्छल और प्राकृतिक हैं। एक गम्भीर साँस ले उसने कहा—बनाव सिंगार की कृत्रिमता एक ओर हटाकर, यह कोयले वाली रूपा की अपेक्षा क्या कहीं अधिक सुन्दर नहीं·······? पर सौंदर्य है ही क्या? मनुष्य क्या खिलौना है जो उसका दाम इस तरह आँका जाय?

प्रतिहिंसा के आवेग में मनुष्य प्रायः ऐसी अड़चनें लाँघ जाता है जिन्हें समझदारी की अवस्था में फाँदना कठिन और अनुचित जान

पड़ता है। दूसरे दिन दोपहर को वर्मा के मन में पुल पर जा बैठने की इच्छा हुई। भद्रता के विचार से संकोच हुआ। इस संकोच को उसने अपनी निर्बलता और कपट समझा और उसे कुचल डालने के लिए वह पुल पर जा बैठा।

दो दिन वह बहुत देर तक पुल पर बैठा रहा परन्तु वह कोयले-वाली दिखाई न दी। दिन भर में अनेक बेर इस असफलता से उसे खिन्नता अनुभव हुई। तीसरे दिन भी बहुत देर बाद, अनेक कोयले वालियों के निकल जाने के बाद, वह कोयले वाली भारी बोझ के नीचे हाँफती हुई आई। परिश्रम और पसीने से क्लान्त मुख पर हलकी मुस्कराहट ले उसने सलाम किया और आगे बढ़ गई। वर्मा ने सिर झुकाकर उत्तर दिया परन्तु कुछ कह न सका। उसकी आँखें लड़की के पीछे-पीछे जा रही थीं। सहसा घूमकर कोयले वाली ने पूछा—"बाबू कोयला लेगा।"

वर्मा ने हामी भर दी॥

कोयले वाली को आसानी हो गई। बाज़ार में कोयला न बिकने पर वर्मा बाबू उसका कोयला ख़रीद ही लेते थे क्योंकि जाड़े की बर्सात और बरफ़ से पहले कोयला इकट्ठा कर लेना ज़रूरी था। जाड़े भर भागसू में ही रहने का निश्चय वर्मा ने बाँध रखा था।

जाड़े की बरसात! और भागसू की बरसात! तीन दिन से पानी गिर रहा था। अँगीठी में कोयले दहक रहे थे। वर्मा उसके सम्मुख शाल ओढ़े बैठा निष्क्रियता में तन्द्रा का आनन्द ले रहा था। शायद हवाई महल बना रहा था कि क्रियात्मक जीवन की पटरी पर से फिसल गई

उसके जीवन की गाड़ी फिर से क्योंकर चालू हो सकती है परन्तु बीच-बीच में आ खड़ी होती थी, कोयले वाली और उसकी निस्संकोच सरलता।

उसी समय बरामदे में कदमों की चाप सुनाई दी। वर्मा को उससे कुछ भी कौतूहल न हुआ। आने-जानेवाला उसके यहाँ कौन था?....दूध वाला, डाकिया, या नौकर बाज़ार से लौटा होगा। पत्तों का छाता बरामदे में रखने की आहट भी न सुनाई दी। नौकर भीतर आया। उसके हाथ में कुछ सौदा था। उसने पूछा—"कोयलेवाली कोयला लाई है, लेलें?"

विस्मय से वर्मा ने पूछा—"इस बरसात में कोयले वाली?"

उठकर वह दरवाज़े के सन्मुख आया। बरामदे में कोयले वाली भारी कण्डी के नीचे दबी खड़ी थी। उसके कोयलों पर पत्तों का एक हलका छाता रखा था। छाते से उसके कोयले बहुत कुछ ढक गए थे परन्तु हेमन्त की उस वर्षा से स्वयम् अपने शरीर को बचाने के लिए कोई उपाय न था। उसके कपड़ों से जल टपक रहा था और उसके दाँत बज रहे थे। व्याकुलता से हाथ का इशारा कर वर्मा ने कहा—"कोयला वहीं छोड़ दो और भीतर आग के सामने आजाओ।"

दीवार के सहारे फ़र्श पर कण्डी को टिका कोयले वाली ने माथे पर लगी कण्डी की पट्टी को ढीला किया और फिर कमान की तरह पीछे झुक, कण्डी की रस्सियों के बन्धन से वह छूट गई। भीगे कपड़ों के कारण जाड़े से ठिठुरती, सिमटती, जैसे बन्दर दो पैरों पर खड़ा हो असुविधा से चलता है वैसे ही, कोयले वाली आगे बढ़ी।

कुर्सी की पीठ पर से एक तौलिया उठा उसकी ओर फेंककर वर्मा ने हुकुम दिया, पानी पोंछ डालो। तौलिए की सफ़ेदी के कारण उसे सहमते देख वर्मा ने अपने हुक्म को ज़ोर से दोहराया—'जल्दी करो।'

कृतज्ञता से हँसकर कोयले वाली हाथ मुँह पोंछने लगी। उत्साह में औचित्यानुचित्य भूल वर्मा ने कहा—"यह सब भीगा कपड़ा उतार डालो! यह शाल ओढ़ लो।"

कोयलेवाली चौंक पड़ी। हँस कर गर्दन हिलाते हुए उसने इनकार किया—"ना"

कुछ समझ कर वर्मा ने बातबदली—"अच्छा आंग के सामने बैठ जाओ।"

आग के सामने वह फर्श पर उकड़ूँ बैठ गई। ठिठुर कर ऐंठी हुई अपनी नीली उँगलियों को वह कोयलों पर रख देना चाहती थी। उसकी देह अब भी थर-थर काँप रही थी। चार-पाँच मिनट में आंच की गरमी से उसके कपड़ों से भाफ के बादल उठने लगे।

वर्मा विचित्र विचारधारा में बह चला, यह कोयलेवाली कोयले का भारी बोझ पीठ पर लादे, जाड़े के मेंह में जमी जा रही है और दूसरे मनुष्य इसके कोयलों के सुखद सेंक में बैठ तम्बाकू पी मज़ा कर रहे हैं। यह इतना कोयला बनाकर भी जाड़े में उसे सेंक नहीं सकती। छम-छम बरसते पानी में पीठ पर कण्डी लिये इसे बाज़ार में फिरना होगा और पौने-आधे दामों जो कुछ मिलेगा लेकर इसे अपना कोयला छोड़ना पड़ेगा, अपने पेट की आँच बुझाने के लिये। नहीं तो जायगी कहाँ? करेगी क्या? क्या इसके पास कोयला रखने के गोदाम हैं?

वर्षा, आँधी और धूप में उड़ चलने वाले मकान–मोटरों की शक्ल में इसके पास नहीं है। प्रपंच से रुपया कमाकर उससे और रुपया खींचने के दूसरे प्रपंच कर सकनेवालों का हाथ इसकी पीठ पर नहीं है। इसलिये पहाड़ों और शहरों में बंगले बना कर जेठ में पूस का और पूस में जेठ का मज़ा यह नहीं ले सकती। ज़रा सी सरदी से ज़ुकाम और ज़रासी गरमी से सिर दरद अनुभव कर सकने का अधिकार इसे कहाँ है? इसे यह अवसर कहाँ है कि ज़रा ज़रा सी बात पर लज्जा से लाल बन जाय!

वर्मा ने उसकी ओर देखा। उसका कांपना रुक गया था। उसके कपड़ों से खूब भाफ उड़ रहा था। उसके चेहरे का नीलापन दूर होकर आग की प्रति छाया से लाली छा गई थी। संतोष का एक साँस ले वर्मा ने एक सिगरेट कोयलेवाली को दिया और दूसरा अपने होठों में दबा, दियासलाई जला उसकी ओर बढ़ाई परन्तु इतनी देर में वह अपना सिगरेट सुलगाने के लिये कोयलों पर झुक चुकी थी।

अपना सिगरेट सुलगा सींख को अँगीठी में फेंकते हुए वर्मा ने पूछा—"तुम्हारा नाम क्या है?"

"पख़नू"

"पख़नू! देखो, मेंह में भीग कर कोयला बेचने तुम मत जाना! मेंह के रोज़ कोयले का दाम हम तुमको देदेगा।"—वर्मा ने कहा। मुस्कराकर कृतज्ञता और अनुमति से पखनू ने सिर झुका दिया। कुछ देर और सोचकर लम्बा कश खींचते हुए वर्मा ने पूछा—"पख़नू, इतने जाड़े में तुम यह भीगे हुए कपड़े कैसे पहने रहोगी?"

"और तो नहीं है"—पख़नू ने हँस कर उत्तर दिया।

"तुम सब जाड़े पानी में ऐसे ही कोयला बेचता है ?"

हथेली पर गाल रख पख़नू ने उत्तर दिया—"हाँ, मल्की नहीं बेचने जाता अब वह चाह वाले बाबू के घर में रहती है और तो सब जाता है। कोई एक दिन न जाय पर यह तो रोज़ बरसेगा !"

वर्मा फिर कुछ देर सोचता रहा। फिर पश्मीने के अपने शाल को उतार पख़नू के कंधे पर रख उसने कहा—"तुम इसका कपड़ा अपने लिये सियो। ओढ़ने को हम और देगा।" पख़नू कुछ क्षण उस शाल की ओर देखती रही फिर एक पुलक से उसे ले लिया। उसके नेत्र चमक उठे।

बारिश में बाहर जाना सम्भव नहीं था परन्तु वर्मा का मन चाहता था तेज चाल से दूर तक चलने को। साँझ तक वह एक उतावली में ठहलता रहा। वह अपनी शक्ति से कुछ कर डालना चाहता था। एक विचार उसके मन में अनेक रूप में बार बार उठ कर उसे बेचैन कर देता था। जैसे सिर में चोट खाये कुत्ते को मक्खियाँ चैन नहीं लेने देतीं, वह बार-बार मूँड़ झकोरता है, वही अवस्था इन विचारों और कल्पनाओं के कारण वर्मा की हो रही थी।

अगले दिन भी बारिश नहीं थमी। व्याकुलता भरी दीर्घ प्रतीक्षा के बाद दोपहर का समय आया। वर्मा बरामदे में ही खड़ा था। पत्तों का छाता लगाये, मेंह की बूँदों में सिमटती-सिमठतो पख़नू आई और बैठी रही। इसी तरह वह आने-जाने लगी।

महीना भर के करीब बीत गया। माघ के दिन थे। कभी धूप

और कभी बादल। मौका होने से वर्मा दोपहर की सुखद गरमी में दूर तक टहल भी आता। वह रूपा को कभी भूल न पाया था पर अब वह उसकी याद से उदास नही होता। अब उसकी याद आने पर वह बेपरवाही से नाक सिकोड़ कर कहता—"पाखंडी, रुपये के गुलाम लालची।"

पख़्नू कभी सुबह ही आ जाती, कभी दोपहर को और कमी साँझ को। पड़ोस के लोग वर्मा के कान बचाकर जो बात कहते, उसे भाँप कर भी वह बेपरवाही बन जाता। सम्मानित कहलाने वाले लोगों के तरीके और व्यवहार की उपेक्षा करने में उसे संतोष अनुभव होता था। वह घूमने जाता तो सुन्दर-सुन्दर जंगली फूल पख़्नू के लिये चुन लाता। पख़्नू भी उसकी नक़ल में आस-पास के उजाड़ पड़े बँगलों के अहातों में खिले फूल नोंच लाती।

वर्मा पख़्नू को 'पुख़राज' कह कर पुकारने लगा।

× × ×

सुबह से बरफ़ की हलकी-हलकी फुहार पड़ रही थी। खूब जाड़ा था। रसोईघर में वर्मा का नौकर लगातार देगची में कड़छी चला रहा था। वर्मा आराम कुर्सी पर बैठा था और कुर्सी की बाँह पर पुख़राज। वह वर्मा के शाल का कुरता पायजामा पहरे थी। एक महीन शाल बेपरवाही से उसके कंधों पर पड़ा था। प्रतिदिन साबुन के झाग से धुल-धुल कर उसके चेहरे से कोयले की धूल ग़ायब हो चुकी थी और परिश्रम की कठोरता की जगह लावण्य की कोमलता आ गई थी। पुख़राज की नज़र अँगीठी की ओर थी। आँच की झलक से उसका

चेहरा सिन्दूर की तरह हो रहा था। उसकी आँखों और होठों पर रहस्यमयी मुस्कराहट छा रही थी। अधीर और व्याकुल स्वर में वर्मा बार-बार पूछ रहा था—"कहो कहती क्यों नहीं ?"

वर्मा के बहुत आग्रह करने पर पुखराज ने धीमे स्वर में कहा—"मुझे तुम अपनी याद की कोई चीज़ दो !"

झुटपुटे बादलों में जैसे सहसा सूर्य की किरण फूट पड़े, वैसे ही वर्मा को ख़याल आया, इस अबोध और ग़रीब के शरीर में भी हृदय है और उसमें भावुकता। द्रवित हृदय से उसे अपनी बाँहों में समेट, उसके होंठ चूमते हुए वर्मा बोला—"मेरी पुख़, मैं तुझे अपनी तसवीर दूँगा।"

अँगूठे से दूसरी उँगली के नाख़ून को खोंटते हुए होंठ बिचका कर पुख़राज ने पूछा,—"तसवीर से क्या होगा ?"

भावुकता की और भी ऊँची उड़ान की आशा में पुलकित हो, पुख़राज की ठोड़ी हाथ में ले वर्मा ने पूछा—"तो फिर क्या लोगी ?"

आँखें ऊपर उठा पुखराज ने उत्तर दिया—"मल्की को चाय वाले बाबू ने सोने की जंजीर दी है। मैं भी सोने की कोई चीज़ लूँगी !"

वर्मा की भावुकता का ज्वार सहसा उतर गया। कुछ सुस्त आवाज़ में उसने पूछा—"सोने का क्या होगा ?"

लाड़ में मचलकर पुख़राज ने उत्तर दिया—"बुढ़ापे में क्या खाऊँगी ?"

पुख़राज की कमर में पड़ी वर्मा की बाँह ढीली पड़ गई। कुछ देर बाद वह दोनों हाथों में सिर थामकर गहरे सोच में पड़ गया। फिर वह उठा दूसरे कमरे में जा, ट्रंक खोल उसने देखा, एक सौ छियालीस

रुपये उसमें थे। सौ रुपया लाकर उसने पखनू की झोली में डाल दिया। फिर दरवाज़ा खोल बरफ़ की उड़ती फुहारों में पुख़राज को द्वार से बाहर निकाल, दरवाज़ा बन्द कर वह आँखें मूंद कुर्सी पर जा बैठा।

बहुत समय तक उसी अवसन्न अवस्था में पड़े रह कर कई दीर्घ निश्वास लेने के बाद छत की ओर टकटकी लगाये क्रोध में उसने कहा—"हाय, सोना, हाय रुपया।........यह मोटर वाली और कोयले वाली सब एक हैं। इनका देवता पैसा है, प्रेम नहीं।"

दूसरे दिन वह बहुत व्यस्त भाव से असबाब बाँध रहा था। तुरंत अमृतसर पहुँच, अपने पिता के मशीनों की दलाली के कारोबार में सम्मिलित होने के लिये उसका मन छटपटा रहा था।

छः

तूफ़ान का दैत्य

जिस सीमा से आगे मनुष्य की शक्ति और पहुँच नहीं जा सकती, वहीं से भगवान और देवताओं का राज्य आरम्भ हो जाता है। हिमालय पहाड़ की इतनी अधिक पूजा और मानता इसीलिये है कि वह मनुष्य के लिये सुगम नहीं। हिमालय देवताओं की बस्ती है। हिमालय के दुर्गम पथों और सँकरे दर्रों के परे जो प्रदेश है वह भी स्वर्गीय है, देवताओं के योग्य है। वहीं की एक बात सुनिये—

घने बादलों के कारण ठीक जान नहीं पड़ता था कि सूरज अस्त हो गया है या नहीं। साँझ हो चुकी थी। लोग खेतों से लौट आये थे। सारों में (बैल बाँधने के छप्पर) चमरबैल (याक) सिर हिला-हिलाकर भूसी को रौंद-रौंदकर खा रहे थे। आने-जानेवाले मुसाफिर सराय में टिककर पत्थर के चूल्हों में आग जला चुके थे।

बेमौसिम की धीमी-धीमी झड़ी लग रही थी। घरों में लोग कम्बल के कपड़े पहने आग के चारों ओर बैठ, तम्बाकू की चिलम से

दम खींच-खींच कर खाँस रहे थे। आग पर धरे, कालिख के अनेक परत चढ़े हुए, 'समावार' (चाय, पकाने के बर्तन) अपना सुरीला राग गुनगुना रहे थे। उनमें कढ़ती हुई चाय की तीखी भाफ़ की फ़ुफ़कार फैलकर, चारों ओर बैठे हुए क्लान्त शरीरों को सांत्वना दे रही थी।

सूनी, तंग, हाथ-हाथ भर चौड़ी गलियों में लकड़ी और पत्थर की नोची, ढलुआ छतों से निरंतर पानी की बूँदें गिर गिरकर गलियों में बहती हुई वर्षा के जल की क्षीण धारायें घरों के दरवाज़ों पर लगे कूड़ा-करकट और मल के ढेरों को क्षीण कर रही थीं।

"झामामूची" में पूरा सन्नाटा था। स्लेट और तख़्तों की छतों पर वर्षा की बूँदों के गिरने के अतिरिक्त और कोई शब्द कहीं सुनाई न देता था। चिमनियां न होने के कारण छतों के किनारों से धुआँ फूट-फूटकर बादल का एक विस्तृत आवरण छा गया था। उससे गाँव की निस्तब्धता और भी गम्भीर हो गई थी। पहाड़ की ढलवानों पर खड़े, अपनी बाँहें फैलाये वर्षा से गाँव को बचाने का यत्न करनेवाले वृक्ष भी चुप थे।

केवल एक शब्द सुनाई दे रहा था। गाँव के किनारे बने काई की कई पर्तों से ढँककर हरे हो गये, तथागत बुद्ध के मन्दिर से पुजारी का डमरू गम्भीर मंद स्वर में पद्मासन बाँधे बुद्ध की मूर्ति के सन्मुख "ॐ मणि पद्मने हुँ" की गुंजार कर रहा था।

ठण्ढी और तेज़ हवा का एक झोंका आया। उसने आँधी का रूप धर लिया। वह अंधड़ बन गया और फिर तूफ़ान! आकाश से पत्थर पड़ने लगे। हवा की तेज़ी से वे आड़े तीरों की तरह चोट कर रहे थे।

मानों, कुरुक्षेत्र के मैदान से कौरवों की और पाण्डवों की अट्ठारह और ग्यारह अक्षौहिणी सेनायें झामामूची गाँव पर बाण वृष्टि कर रही हों। ओलों की कड़ाकड़ मार से झामामूची मुखरित हो उठा।

फ़सल में दाना पड़ चुका था। भेड़ें ब्या चुकी थीं।……फसल का क्या होगा ?…… नई ब्याई भेड़ों और उनके मेमनों का क्या होगा…………?

गाँव में हाहाकार मच गया। हू, हू, करती हुई तेज़ हवा छतों में घुसने लगी। बच्चे रोने लगे, कुत्ते भोंकने लगे। माताओं ने बच्चों को कम्बलों में लपेट दिया। वे बाहर निकल छत को हवा में उड़ जाने से बचाने के लिये ऊपर पत्थर रख देना चाहती थीं परन्तु बच्चे रो-रोकर उनसे लिपट जाते थे। गाँव भर में कोहराम मच गया—"हा ! तूफ़ान का दैत्य !"

हाहाकार करते हुए लोग गलियों में निकल पड़े। पुंगपू ? पुंगपू ! चिल्लाते हुए वे लोग तथागत के मन्दिर की ओर दौड़े। सब लोगों ने चिल्ला-चिल्लाकर मन्दिर के पुजारी को तूफ़ान के दैत्य का सामना करने के लिये पुकारा।

× × ×

मन्दिर के पुजारियों का काम तूफ़ान तथा दूसरे भयानक दैत्यों से गाँव की रक्षा करना ही है। यही उनकी सार्थकता है। घण्टों तूफ़ान के देव से लड़कर यह लोग गाँव की रक्षा करते हैं।

तीन बरस पहले, जब पूस में बरफ़ की आँधी आई थी, पुंगपू रात भर तलवार और बरछा लेकर तूफ़ान से लड़ता रहा परन्तु पार न पा

सका। आख़िर जब बर्छी से पैने बरफ के खौंरों से उसका चेहरा लहू-लुहान हो गया, उसके कम्बल के कपड़े पसीने से सराबोर हो टपकने लगे—वह बेहोश हो गिर पड़ा परन्तु दैत्य का बल कम न हुआ। उस रोज़ मनुष्य की शक्ति तूफ़ान के दैत्य को हरा न सकी।

पुंगपू हार मानकर टीले से नीचे उतर आया। सब फ़सल छाई में मिल गई। सैकड़ों भेड़ें और बीसों चमर गाय मर गईं। हफ्तों कोई मन्दिर में नहीं गया। किसी ने पुजारी को सीधा नहीं दिया। गाँव वाले पुजारी को क्रोध और वितृष्णा भरी तिर्छी दृष्टि से देखकर मुह फेर लेते।

जब पुजारी तूफान के दैत्य से लड़कर गाँव की रक्षा नहीं कर सकता तो उसे खिला-खिलाकर मोटा करने से लाभ ? महीनों में गाँव वालों का क्रोध उतरा।

आज फिर पुंगपू की परीक्षा का दिन था। भय से उसका शरीर काँप रहा था। एक हाथ में लम्बी तलवार और दूसरे में बरछा लेकर तूफ़ान से लड़ने के लिये वह टीले पर चढ़ने लगा। वह जानता था, दूसरी बार दैत्य से हारकर लौटने का अर्थ होगा—देवता पुंगपू से रुष्ट है, इस कारण गाँव पर देवता का श्राप पड़ रहा है। यह उसके लिये मौत के मुँह में जाना था।

वीभत्स स्वर में तुमुल 'हल-हल' ध्वनि कर बरछा घुमाते हुए वह चोटी की ओर दौड़ पड़ा। झामामूची के लोग भय से काँपते हुए अपने घरों को लौट पुंगपू और तूफानी दैत्य के युद्ध के परिणाम की प्रतीक्षा करने लगे।

तूफ़ान की भयंकर हू, हू, के बीच कभी-कभी पुंगपू की क्षीण ललकार भी सुनाई पड़ जाती थी। वह ललकार-ललकार कर तूफ़ान पर बर्छे और तलवार का प्रहार कर रहा था।

कुछ ही समय में पत्थर गिरने का शब्द सहसा थम गया। केवल हवा का ज़ोर बाकी रह गया। कुछ देर में वह भी ख़त्म हो गई। दरवाज़ों और छतों की फाँकों से चाँद की उजली किरणें भीतर आने लगीं। तूफ़ान से रक्षा पा सब लोग मकानों से बाहर निकल आये।

चारों ओर धुनी हुई रूई सी निर्मल, उजली बरफ़ के सिवा और कुछ दिखाई न देता था। उजली चाँदनी में आँखें चौंधिया रही थीं। रहे-सहे बादल आकाश में उड़े चले जा रहे थे। वे भी निर्मल उजली रुई के ढेर से जान पड़ते थे।

ग्रामवासी मन्दिर के आँगन में एकत्र होने लगे। लोगों ने देखा पुंगपू तलवार कंधे पर रखे और बर्छे की लकड़ी को पत्थरों पर टेकता हुआ टीले पर से उतर कर आ रहा है। उसके चौड़े चेहरे, माथे और चपटी नाक पर पसीने की लकीरें चाँदनी में चमक रही थीं। उसकी छोटी-छोटी आँखों में विजय और आत्म विश्वास चमक रहा था। आंगन में एकत्र समुदाय ने कमर तक शरीर को झुका उसका अभिवादन किया और अपनी भेंट उसके सामने रख दी। ग्रामवासी प्रसन्न थे:—

'कितनी जल्दी पुंगपू ने तूफ़ान के दैत्य के दाँत खट्टे कर दिये ? पुंगपू निश्चय ही भगवान का प्रतिनिधि है, वह हमारे गाँव की रक्षा करता है। दैत्य ने हानि बहुत पहुँचाई, परन्तु पुंगपू ने हमारी रक्षा कर ली वरना दैत्य हम सबका नाश कर देता।"

पुंगपू ने बर्छी उठाकर कहा—"आज तूफ़ान के दैत्य को परास्त कर मैंने कह दिया है कि उसकी पूजा का भाग, लाल जुआर का आटा, चमर गाय का मक्खन, भेड़ का मांस और नमक उसे हर अमावस और पूनों को भेंट कर दिया जायगा। अब उसे इस गाँव में आने की ज़रूरत नहीं।"

गाँव वालों ने श्रद्धा से सिर झुकाकर नियम से भेंट पहुचाने की प्रतिज्ञा की।

× × ×

"तुम्हें क्या पुंगपू की दैवी शक्ति में सन्देह है? न हुए तुम झामामूची गाँव में!'

सात

कुत्ते की पूँछ

श्रीमती जी कह रही थीं—"उलटी बयार फ़िल्म का बहुत चर्चा है, देख आना चाहिये।"

देख आने में एतराज़ न था परन्तु सिनेमा शुरू होने के समय अर्थात साढ़े छः बजे तक तो दफ़्तर के काम से ही छुट्टी नहीं मिल पाती। दूसरे शो में जाने का मतलब है—बहुत देर में सोना, कम सोना और अगले दिन काम ठीक से न कर सकना। लेकिन जब "उल्टी बयार" को तीसरा हफ़्ता लग गया तो यह मान लेना पड़ा कि फ़िल्म अवश्य ही देखने लायक़ होगी।

रात साढ़े बारह बजे सिनेमा हाल से निकलने पर टाँगे का दर कुछ बढ़ जाता है। आने-दो आने में कुछ बन-बिगड़ नहीं जाता लेकिन टाँगेवाले के सामने अपनी बात रखने के लिए कहा—"नहीं; पैदल ही चलेंगे। चाँदनी रात है। मुश्किल से चार कदम चलने का मौक़ा मिला है।"

उज्ज्वल चाँदनी में सूनी सड़क पर सामने चलती जाती अपनी बौनी परछाईं पर क़दम रखते हुए चले जा रहे थे। ज़िक्र था, फ़िल्म में कहाँ तक स्वाभाविकता है और कितनी कला है ? स्त्रियों से भी कला के विषय में बात की जा सकती है ; खासकर जब परिचय नया हो ! परन्तु स्वयम् अपनी स्त्री से……जिसे आदमी रग-रोयें से पहचानता हो, बहस या विचार विनिमय का क्या मूल्य ?

श्रीमती को शिक़ायत है, दुनिया भर के सैकड़ों विषयों पर सैकड़ों लोगों से बहस करके भी मैं उनसे कभी बहस नहीं करता। मैं उन्हें किसी योग्य नहीं समझता। इस अभियोग का बहुत माक़ूल जवाब मैंने सोच निकाला :—जिस आदमी से विचारों की पूर्णतः एकता हो, उससे बहस कैसी ?

इस उत्तर से श्रीमती को बहुत दिन तक संतोष रहा कि विद्वान समझे जानेवाले पति के समान विचार होने के कारण वे भी विद्वान हैं। परन्तु दूसरों पर बहस की संगीन चला सकने के लिये पति नाम के रेत के बोरे पर कुछ अभ्यास करना भी तो ज़रूरी होता है। इसीलिये एक दिन खीझकर बोलीं—"बहस न सही, आदमी बात तो करता है। हमसे तो कभी कोई बात नहीं करता।"

सो पति होने का टैक्स चुकाने के लिये, अपनी स्त्री के साथ कला का ज़िक्र कर चाँदनी रात का खून हो रहा था। मैं कह रहा था और वे हूँ-हूँ कर कर हामी भर रही थीं। अचानक वे पुकार उठीं—"यह देखो !"

स्त्री के सामने कला की बात करने की अपनी समझदारी पर दाँत

पीसकर रह गया। सोचा वही बात हुई—"राजा कहानी कहें, रानी जूँ टटोलें।"

देखा :—हलवाई की दुकान थी। सौदा उठा लिया गया था। बिजली का एक बल्ब अभी जल रहा था। लाला दुकान के तख़्त पर चिलम उलटकर दीवार से लगे ऊँघा रहे थे। नीचे सड़क पर बड़ी कढ़ाई ईंट के सहारे टिकाकर रक्खी गई थी। उसे माँजने के प्रयत्न में एक छोटी उम्र का लड़का उसी में सो गया था। कालिख से भरा जूना उसके हाथ में थमा था और उसकी बाँह फैली हुई थी। दूसरा हाथ कड़े को थामे था। कढ़ाई को घिसते-घिसते लड़का ऊँघा गया और फैली हुई बाँह पर सिर रख सो गया।

एक कुत्ता कढ़ाई के किनारे-किनारे बच रही मलाई को चाट रहा था। मैं देखकर परिस्थिति समझने का यत्न कर रहा था कि श्रीमती जी ने पिघले हुए स्वर में क्रोध का पुट देकर कहा—"देखते हो ज़ुल्म !.... क्या तो बच्चे की उम्र है और रात के एक बजे तक यह कढ़ाई, जिसे वह हिला नहीं सकता, उससे मँजाई जा रही है।"

मेरी बाँह में डाले हुए हाथ पर बोझ दे वे कढ़ाई पर झुक गईं और लड़के की बाँह को हिला उसे पुचकार कर उठाने लगीं।

लड़का नींद से चौंककर झपाटे से कढ़ाई में जूने के रगड़े लगाने लगा परन्तु श्रीमती जी के पुचकारने से उनसे नींद भरी आँख उठाकर उनकी ओर देखा।

परिस्थिति को समझ मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार कहा—"मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की कोई सीमा नहीं।"

मेरी इस बात को अपने समझने योग्य भाषा में प्रकट करने के लिये वे बोलीं—"हाय कैसे पत्थर दिल होते हैं जो इस उम्र में बच्चों को इस तरह बेच डालते हैं। और इस राक्षस को देखो, बच्चे को मेहनत पर लगा खुद सो रहा है।" फिर वे बच्चे को पुचकार कर साथ चलने के लिये पुकारने लगीं।

इस गुल-गपाड़े से लाला की आँख खुल गई। नींद से भरी लाल आँखों को झपकाते हुए लाला देखने लगे पर इससे पहले कि वे कुछ समझें या बोल पायें, श्रीमती जी लड़के का हाथ थाम ले चलीं। फ़िल्म और कला का चर्चा श्रीमती जी की करुणा और क्रोध के प्रवाह में डूब गया।

क़ानूनी पेशा होने के कारण क़ानून की जद का ख़याल आया। समझाया—"कम उम्र बच्चे को उसके माँ-बाप की अनुमति के बिना इस प्रकार खींच ले जाने से पुलिस के झंझट में पड़ना होगा।"

राजा और समाज के क़ानून से जबरदस्त क़ानून है स्त्रियों का। पति को बिना किसी हीलो-हुज्जत के स्त्री के सब हुकुम मानने ही पड़ते हैं। श्रीमती जी ने अपना क़ानून अड़ाकर कहा—"इसके माँ-बाप आकर ले जायँगे। हम कोई लड़के को भगाये थोड़े ही लिये जा रहे हैं। लड़के पर इस तरह ज़ुल्म करने का किसी को क्या हक़ है? यह भी कोई क़ानून है?"

लाला आँख झपकाते रहे और हम उस लड़के को लिये चले आये। लाला बोले क्यों नहीं? कह नहीं सकता। शायद कोई बड़ा सरकार अफ़सर समझकर चुप रह गये।

लड़के से पूछने पर मालूम हुआ कि दरअसल उसके माँ-बाप थे नहीं। मर गये थे। कोई उसका दूर का रिश्तेदार उसे लाला के यहाँ छोड़ गया था।

दूसरे रोज़ लाला बँगले के अहाते में हाज़िर हुए और बोले कि यों तो हम माई-बाप हैं लेकिन मेम साहब की ज़्यादती है। लड़के के बाप की तरफ़ लाला के साठ रुपये आते थे वह मर गया। लाला उल्टे और अपनी गाँठ से लड़के को खिला-पहनाकर पाल पोस रहे थे। लड़के की उमर ही क्या है कि कुछ काम करेगा? ऐसे ही दुकान पर चीज़ धर-उठा देता है सो मेम साहब उसे भी उठा लाईं। लाला बेचारे पर ज़ुल्म ही ज़ुल्म है। उन्हें उनके साठ रुपये दिला दिये जायँ। सूद वे छोड़ देने को तैयार हैं। या फिर लड़का ही उनके पास रहे।

बरामदे के फ़र्श पर जूते की ऊँची एड़ी पटक, भौं चढ़ाकर श्रीमती जी ने कहा—"आल राइट..............., इसके बाद शायद वे कहना चाहती थीं—"साठ रुपये ले जाओ!"

परिस्थिति नाज़ुक देख बीच में बोलना पड़ा—"लाला, जो हुआ, अब चले जाओ वर्ना लड़का भगाने और 'क्रुएल्टी टू चिल्डरन' (बच्चों के प्रति निर्दयता) के जुर्म में गिरफ़्तार हो जाओगे—।" अहाते के बाहिर जाते हुए लाला की पीठ से नज़र उठाकर श्रीमती ने विजय गर्व से मेरी ओर देखा। उनका अभिप्राय था—देखो, तुम ख़ामख़ाह डर रहे थे। हमने कैसे सब मामला ठीक कर लिया। तुम कुछ भी समझ नहीं सकते!

× × ×

लड़के का नाम था हरुआ। श्रीमती ने कहा—यह नाम ठीक नहीं,

होना चाहिये, हरीश। लड़के की कमर पर केवल एक अँगौछा मात्र था, शेष शरीर ढका हुआ था मैल के आवरण से। सिर के बाल गर्दन और कानों पर लटक रहे थे।

लाइफ़ ब्वाय साबुन की झाग में घुल घुलकर वह मैल बह गया और हरीश साँवला-सलोना बालक निकल आया। दरबान के साथ सैलून में भेजकर उसके बाल भी छँटवा दिये गये। बिशू के लिये नई कंघी मँगाकर पुरानी हरीश के बालों में लगा दी गई। बिशू के कपड़े भी हरीश के काम आ सकते थे परन्तु चार बरस के लड़के में अन्तर काफ़ी रहता है। ख़ैर, जो भी हो हफ्ते भर में हरीश के लिये भी नेवीकट कालर के पाँच-छः कमीज़ और नेकर सिल गये। उसके असुविधा अनुभव करने पर भी उसे जुराब और जूता पहनना पड़ता। श्रीमतीजी ने गम्भीरता से कहा,—"उसके शरीर में भी वैसा ही रक्त-माँस है जैसा कि किसी और के शरीर में!"—उनका अभिप्राय था, अपने पेट के लड़के बिशू से। परन्तु इसका कारण था; वह यह कि बिशू आखिर पुत्र तो मेरा भी है न!

उन्होंने कहा—"उसके भी दिमाग़ है। वह भी मनुष्य प्राणी है और उसे मनुष्य बनाना भी उनका कर्तव्य है। हरीश के कोई काम स्वयम कर देने पर प्रसन्नता के समय वे मेरा ध्यान आकर्षित कर कहतीं—"लड़के में स्वाभाविक प्रतिभा है। यदि उसे अवसर मिले तो वह क्या नहीं कर सकेगा?.......हाँ उस मज़दूर का क्या नाम था जो अमेरिका का प्रेजीडेण्ट बन गया था.......मौक़ा मिले तो आदमी उन्नति कर क्यों नही सकता..........।"

चार वर्ष की आयु ऐसी नहीं जिसमें अधिकार का गर्व न हो सके या श्रेणी विशिष्टता का भाव हो। अपनी जगह पर अपने से नीची स्थिति के बालक को अधिकार जमाते देखकर अपनी माँ को दूसरे के सिर पर हाथ फेरते देख और हरीश को अपनी सम्पत्ति का प्रयोग करते देख, बिशू को ईर्षा होने लगती ! रोनी सूरत बनाकर वह होंठ लटका लेता या हाथ में थमी किसी चीज़ से हरीश को मारने का यत्न करने लगता। श्रीमती जी को इन सब बातों में ग़रीबी और मनुष्यता का अपमान दिखाई देता। गंभीरता से वे बिशू को ऐसा अन्याय करने से रोकतीं और हरीश का साहस बढाकर उसे अपने आपको किसी से कम न समझने का उपदेश देतीं।

हरीश बात-बात में सहमता, सकपकाता। पास बैठने के बजाय दूर चला जाता और बिशू से खेलता भी तो उसकी आँखों में बिशू के खिलौनों के लोभ की झलक दिखाई देती रहती। श्रीमती उसे संतुष्ट कर, उसका भय मिटाकर उसे बिशू के साथ समानता के दर्जे पर लाने का प्रयत्न करतीं। कई दफ़े उन्होंने शिकायत की कि मेरे स्वर में हरीश के लिये वह अपनापन क्यों नहीं आ पाता जो आना चाहिये, जैसा बिशू के लिये है। इस मामले में क़ानून का हवाला या वकालत की जिरह मेरी मदद नहीं कर सकती थी, इसलिये चुप रहने के सिवा चारा न था।

हरीश के प्रति सहानुभूति अनुभव कर उसे मनुष्य बनाने की इच्छा रखते हुए भी मैं श्रीमतीजी को इस बात का विश्वास न दिला सका। हरीश के प्रति उनकी वत्सलता और प्रेम मेरी पहुँच से एक बालिस्त ऊँचा ही रहता।

श्रीमती जी को शिकायत थी कि हरीश आकर अधिकार से उनके पास क्यों नहीं बैठता और क्यों नहीं अपने मन की बात कहता? क्यों नहीं ज़रूरत की चीज़ के लिये जिद् करता? उन्हें ख़याल था कि इन सबका कारण था, मेरा भय।

एक दिन बुद्धिमानी और गहरी सूझ की बात करने के लिये उन्होंने सुनाकर कहा—"पुरुष सिद्धान्त और तर्क की लम्बी-लम्बी बातें कर सकते हैं परन्तु हृदय को खोलकर फैला देना उनके लिये कठिन है" सोचा—श्रीमतीजी को समानता की भावना के लिये उत्साहित कर उन्हें अपना बड़प्पन अनुभव करने के लिये मैं अवसर पेश नहीं कर पाता हूँ, यही मेरा कुसूर है।

× × ×

एक रियासत के मुकद्दमे में सोहराबजी का जूनियर बनकर समस्तीपुर जाना पड़ा। उम्र बढ़ जाने पर प्रणय का अंकुश तो उतना तीव्र नही रहता पर घर की याद जवानी से भी अधिक सताती है। कारण है, शरीर का अभ्यास। निश्चित समय और स्थान पर आवश्यकता की वस्तु का सहज मिल जाना विदेश में नहीं हो सकता और न शैथिल्य का संतोष ही मिल सकता है।

समस्तीपुर में लग गये चार मास। औसत आमदनी से अढ़ाई गुना आमदनी के लोभ ने सब असुविधाओं को परास्त कर दिया। घर से सम्बन्ध था केवल श्रीमतीजी के पत्र द्वारा। कभी सप्ताह में एक और कभी सप्ताह में तीन पत्र आते। बिशू को ज़ुकाम हो जाने पर एक सप्ताह में चार पत्र भी आये। आरम्भ के पत्रों में हरीश के जिक्र का

एक पैराग्राफ़ रहता था और दूसरे पैराग्राफ़ में भी उसके सम्बन्ध में थोड़ा-बहुत चर्चा। सोचा—मेरी ग़ैरहाजिरी में मेरी अनुदारता से मुक्ति पाकर लड़का तीव्र गति से मनुष्य बन जायगा।

कुछ पत्रों के बाद हरीश की खबरों की सरगर्मी कम हो गई। फिर शिक़ायत हुई कि वह पढ़ने-लिखने की ओर मन न लगाकर गली में मैले-कुचैले लड़कों के साथ खेलता रहता है। बाद में ख़बर आई कि वह कहना नहीं मानता, स्वभाव का बहुत जिद्दी है। बहुत डल (सुस्त दिमाग़) है। हर समय कुछ खाता रहना चाहता है। इसी से उसका हाज़मा ठीक नहीं रहता।

× × ×

लौटकर आने पर बैठा ही था कि श्रीमतीजी ने शिक़ायत की—"सचमुच तुम बड़े अज़ीब आदमी हो! हम यहाँ फ़िक्र में मरते रहे और तुम से ख़त तक नहीं लिखा जा सकता था? ऐसी भी क्या बेपरवाही! यहाँ यह मुसीबत कि लड़के को खाँसी हो गई। तीन-तीन दफ़े डाक्टर को बुलवाना पड़ता था। घर में सिर्फ़ दो तो नौकर हैं। वे घर का काम करें या डाक्टर को बुलाने जायँ? इस लड़के को देखो—"हरीश की ओर संकेत करके—"ज़रा डाक्टर बुलाने भेजा तो सुबह से दुपहर तक गलियों में खेलता फिरा और डाक्टर का घर इसे नहीं मिला। डाक्टर जमील को शहर में कौन नहीं जानता?"

हरीश बिशू को गोद में लिये श्रीमतीजी की ओर देख सहमता हुआ मेरे समीप आना चाहता था। इस उम्र में भी आदमी इतना चालाक हो सकता है? हरीश को बिशू से इतना अधिक स्नेह हो गया था या

वह उसे इसलिये उठाये था कि उसे सँभाले रहने पर उसे खाली खेलने रहने के कारण डाँट न पड़ेगी।

उसकी ओर देख श्रीमतीजी ने कहा—"अरे उसे खेलने क्यों नहीं देता ?.......तुझे कई दफे तो कहा, गुसलखाने में गीले कपड़े पड़े हैं उन्हें ऊपर सूखने डाल आ !"

हरीश महफ़िल से यों निकाले जाने के कारण अपनी कातर आँखों से पीछे की ओर देखता चला गया। कुछ ही देर में वह फिर आ हाज़िर हुआ। उसकी ओर देख श्रीमतीजी ने कहा—"हरीश, जाओ देखो, पानी लेकर खस की टट्टियों को भिगो दो !.......सुनो यों ही पानी मत फेंक देना। स्टूल पर खड़े होकर अच्छी तरह भिगो देना।"

मेरी ओर देखकर वे बोलीं जिस काम के लिये कहूँ—"कतरा जाता है।"

"इसे पढ़ाने के लिये जो वह स्कूल के लड़के को चार रुपये देने के लिये तय किया था, सो क्या नहीं आता ?"

बिशू के गले का बटन लगाते हुए श्रीमतीजी बोलीं—"ख़ामख़ाह ! पढ़े भी कोई, यह पढ़ता ही नहीं; पढ़ चुका यह ? बस खाने की हाय-हाय लगी रहती है। कोई चीज़ सँभालकर रखना मुश्किल हो गया है।"

हरीश कमरे में तो दाख़िल न हुआ लेकिन दरवाज़े से झाँककर चक्कर ज़रूर काट गया। वह सन्देह भरी नज़रों से कुछ ढूँढ़ रहा था। फल की टोकरी से कुछ लीचियाँ निकालकर श्रीमतीजी ने बिशू के हाथ में दीं। उसी समय हरीश की ललचाई हुई आँखें बिशू के हाथों की ओर ताकती हुई दिखाई दी ?

श्रीमतीजी खीझ गईं—"हरदम बच्चे के खाने की ओर आँखें उठाये रहता है। जाने कैसा भुक्खड़ है! इन लोगों को कितना ही खिलाओ, समझाओ, इनकी भूख बढ़ती ही जाती है....ले इधर आ!" दो लीचियाँ उसके हाथ में देकर बोलीं—"जा बाहर खेल, क्या मुसीबत है।"

उसी शाम को एक और मुसीबत आ गई। जो कपड़े हरीश ने सुबह सूखने डाले थे, वे हवा में उड़ गये। श्रीमतीजी ने भन्नाकर कहा—"तुम्हीं बताओ मैं इसका क्या करूँ? वही बात हुई न कि कुत्ते का गूँ न लीपने का, न पोतने का। अच्छी बला गले पड़ गई। समझाने से सतझता भी तो नहीं।........इसकी सोहबत में बिशू ही क्या सीखेगा? कोई भला आदमी आये, सिर पर आ सवार होता है। स्कूल भिजवाया तो वहाँ पढ़ता नहीं। लड़कों से लड़ता है। अपने आगे किसी को कुछ समझता थोड़े ही है। तुमने उसे लाट साहब बना दिया है, कम जात कहीं अपनी आदत से थोड़े ही जाता है?"—क्या उत्तर देता? बात टाल गया।

फिर दूसरे समय श्रीमती जी ने बिशू को उठाकर मेरी गोद में दे दिया। वे देखना चाहती थीं कि बिशू मेरी गोद में बैठने से कैसा जान पड़ता है? उसी समय हरीश भी दौड़ कर आया और बिलकुल सटकर खड़ा हो गया। पोज़ का यों बिगड़ जाना, श्रीमती जी को न भाया। सुनाकर बोलीं,—"बन्दर को मुँह लगाने से वह नोचेगा ही तो! इन लोगों के साथ जितना ही भलाई करो, उतना ही सिर पर आते हैं। यह कोई आदमी थोड़े ही हैं।"

कह नहीं सकता हरीश कितना समझा और कितना नहीं पर इतना जरूर समझा कि बात उसी के बारे में थी और वह उसके प्रति आदर की नहीं थी। इतना तो पालतू कुत्ता भी समझ जाता है। गले का स्वर ही यह प्रकट कर देता है। हरीश कतराकर चला गया और मुँडेर पर ठोड़ी रख गली में झाँकने लगा।

सोचने लगा, वह कौन ढंग हो सकता है कि अपनी बात भी कह सकूँ और श्रीमतीजी को भी विरोध न जान पड़े। कहा—"जानवर को आदमी बनाना बहुत कठिन है। उसे पुचकार कर पास बुलाने में बुरा नहीं मालूम होता क्योंकि उसमें हमें दया करने का सन्तोष होता है। परन्तु जब जानवर स्वयम ही पंजे गोद में रख मुँह चाटने का यत्न करने लगता है, तब अपना अपमान जान पड़ने लगता है........।"

सहसा आवाज़ गरम करते हुए श्रीमती जी बोलीं—"तो मैं कब कहती हूँ..........."

उन्हें बात पूरी न करने दी। बात पूरी करने देता तो जाने कितना लम्बा बयान और जिरह सुननी पड़ती, इसलिए झट से बात काटकर कहा—"ओहो; तुम्हारी बात नहीं; मैं बात कर रहा हूँ यह सरकार और मज़दूरों के झगड़े की!"

मन में भर गये क्रोध को एक लम्बी फुफकार में छोड़कर उन्होंने जानना चाहा, मैं बहाना तो नहीं कर गया। इससे पूछा—"सो कैसे?"

उत्तर दिया—"यही सरकार मज़दूरों की भलाई के लिये क़ानून पास करती है और जब मजदूरों का हौंसला बढ़ जाता है तो वे खुद ही

सुधार माँगने लगते हैं तब सरकार को उनका आन्दोलन दबाने की जरूरत महसूस होने लगती है।"

श्रीमतीजी को विश्वास हो गया कि किसी प्रकार का विरोध मैं उनके व्यवहार के प्रति नहीं कर रहा।

बोलीं—"तभी तो कहते हैं कुत्ते की पूँछ बारह बरस नली में रक्खी, पर सीधी नहीं हुई। हाँ उस रोज़ वो लाला साठ रुपये की धमकी दे रहा था। बनिया ही ठहरा! कहीं सूद भी गिनने लगे तो जाने रक़म कहाँ तक पहुँचे? इस झगड़े में पड़ने से लाभ?"

श्रीमतीजी का मतलब तो समझ गया परन्तु समझकर आगे उत्तर देना ही कठिन था। इसलिये उनकी तरफ़ विस्मय से देखकर पूछा—"क्या मतलब तुम्हारा?"

"कुछ नहीं"—उन्होंने कहा। उन्हें झल्लाहट थी मेरी कम समझी पर और कुछ झेंप थी जानवर को मनुष्य बना देने के असफल अभिमन पर।

मैं जानता हूँ—बात दब गई, टली नहीं। कल फिर यह प्रश्न उठेगा। परन्तु किया क्या जाय? कुत्ते की पूँछ एक दफे काट लेने पर उसे फिर से उसकी जगह लगा देना कैसे सम्भव हो सकता है? और मनुष्यता का चसका एक दफ़े लग जाने पर फिर किसी को जानवर बनाये रखना भी तो सम्भव नहीं।

आठ

शिक़ायत

बैरिस्टर साहब मन और शरीर की उस अवस्था में पहुँच चुके थे जब मनुष्य भोगों की तुच्छता समझकर आत्म-चिन्तन में ही शान्ति-लाभ करता है। धन-उपार्जन के लिये बैरिस्टर साहब ने कठोर परिश्रम किया था ; परन्तु धन वे धन की आराधना के लिए नहीं कमाते थे। कमाते थे, उसका उपभोग करने के लिए। इसलिए जब धन आ गया तो हविस छोड़ वे शान्ति की खोज करने लगे। वे उस वैराग्य का सुख-लाभ करने लगे जो पूर्णता और तृप्ति से प्राप्त होता है।

बहुत बरस हुए 'हरमल' में किसी अङ्गरेज़ ने चाय का एक छोटा-सा बाग़ लगाया था। उस बाग़ से कुछ मुनाफ़ा न हुआ और जब काँगड़ा से कुल्लू जानेवाली मोटर की नई सड़क बन गई तो बाग़ सड़क से पाँच मील परे पड़ कर बिल्कुल ही उजड़ गया। साहब के लम्बे-चौड़े आलीशान बँगले के बरामदों के एकान्त आश्रय में गीदड़ों और लोम-ड़ियों के मूक प्रेम का आदान-प्रदान होने लगा। मनुष्यों की ही तरह

मकानों के भी अच्छे-बुरे दिन आते हैं। बैरिस्टर साहब की नज़र जब इस बँगले पर पड़ी और इसके दिन फिर गये।

बँगला आधुनिक सभ्यता की आवश्यकताओं के अनुरूप बनाया गया था ; परन्तु सभ्यता की भौगोलिक परिधि से परे पड़ जाने से सिसक रहा था। भारी-भारी देवदार वृक्षों की छाया में अपने नेत्र, नाक, कान मूँदे, काई की कई-कई परतों से लदी खपरैल की ढलवा छत ओढे वह बँगला बैरिस्टर साहब को किसी आत्म-लीन, शान्त, तटस्थ, पलितकेश, वयोवृद्ध की तरह जान पड़ा। बँगला उन्होंने ख़रीद लिया और प्रतिवर्ष चार-पाँच मास वे वहाँ बिताने लगे।

बँगले के चारों ओर पहाड़ी के ढालू पार्श्वों पर चाय का बाग़ बनाया गया था। वह अब चाय का जंगल बन गया था। चाय की झाड़ियाँ, चाय तोड़ने वाले कुलियों की अँगुली से त्राण पा और पृथ्वी से यथेष्ट रस प्राप्त कर, विशाल और हरी-भरी हो उठी थीं। चाय के उस बाग़ में न तो कुलियों के जमादार की गाली मिली कर्कश ललकार ही सुनाई पड़ती थी और न चाय तोड़ने वाली पहाड़िनों के यौवन का उद्गार छलक पड़ने से सम्मिलित राग की लहरी ही सुनाई देती थी। शायद उन बीते दिनों की सूक्ष्म स्मृति मात्र ही देवदार के घने पड़ों की छाया में चाय के चिकने पत्तों पर सो रही थी। अब उन झाड़ियों में बुलबुलों का एक उपनिवेश बस गया था और उन्हीं के तराने उस सुनसान में गूँजते थे।

बैरिस्टर साहब का एक ही लड़का था, भुवन। तेईस वर्ष की अवस्था में एम० एस-सी० पास कर वह प्रोफ़ेसर बन गया। स्वयम पिता

की अँगुली पकड़ कर चलने के झंझट से बचने के लिए उसने एक पुत्री पैदा कर दी। इसके अतिरिक्त भुवन की सुसराल से बहन के पास आकर रहने वाले उसके साले-सालियों पर भी बैरिस्टर साहब के वात्सल्य की बूँदें झरती ही रहती थीं।

पहाड़ के मौसिम में बैरिस्टर साहब के साथ हरमल में निरन्तर यदि कोई रहता था तो नौकर-चाकर और उनकी पोती 'बुलबुल', अपनी आया को साथ लेकर। परन्तु उस वर्ष जब अप्रैल के मध्य से बैरिस्टर साहब के पहाड़ जाने की तैयारी होने लगी, उस समय भुवन की छोटी साली निर्मल लाहौर में बहन के यहाँ दी थी। निर्मल ने उसी वर्ष वूमेन्स कॉलिज से बी० ए० की परीक्षा दी थी। निर्मल के परीक्षा क्लान्त मुखकी ओर स्नेह से देख बैरिस्टर साहब ने अपने हरमल के बँगले की एकान्त, शान्त, शोभा का वर्णन कर कहा—"आओ बेटी, चलो तुम भी गर्मी में वहीं आराम करना। बुलबुल को पढ़ाने में तुम्हारा दिल भी बहल जायगा।"

निर्मल मंसूरी और काश्मीर की सैर कर चुकी थी। पहाड़ जाने के ज़िक्र से उसकी स्मृति-गुदगुदा उठी। सामने लटकती अपनी विपुल वेणी को दोनों हाथों से थाम,बहन की ओर देख उसने पूछा—"चली जाऊँ ?"

अनुमति मिल गई।

× × ×

झगड़े, झंझट, कर्त्तव्य, शिकायत और शहरों की गर्मी से भरे संसार को पीछे छोड़ निर्मल ताऊजी और बुलबुल के साथ हरमल

के बँगले में जा पहुँची। उस शान्त, एकान्त और ठण्डी वायु की सिहरन को प्रचुर मात्रा में अनुभव करने के लिए वह दीर्घ निश्वास ले अपनी लम्बी पलकों को खोलने और मूँदने लगी।

दो दिन पहले हरमल पहुँचकर दो नौकरों ने कमरों की सफ़ाई और झड़ाई कर दी थी। परन्तु फिर भी तीन-चार दिन तक साड़ी का आँचल कमर में लपेट निर्मल को प्रबन्ध करना ही पड़ा। बैरिस्टर साहब अख़बार गोद में रख, उत्तर-पूर्व की ओर कोहरे से ढकी नीली पर्वत-राशि पर छाई धूप में रंग बदलती बरफ़ की ओर देख-देख और स्वामी विवेकानन्द के राजयोग को पढ़-पढ़कर समय बिता देते थे। बुलबुल के लिए हरिया ने बड़े-बड़े बालों वाला एक मोठासा पिल्ला ला दिया था। उसे उसकी चिन्ता से फ़ुर्सत न मिलती थी। निर्मल बड़े हाल में पुस्तक लेकर बैठती तो अकेली, दोपहर में लेटने जाती तो अकेली और देवदारों की छाया में चाय की ऊँची-ऊँची झाड़ियों में टहलती तो अकेली।

सप्ताह-समाप्त होते-होते परीक्षा से आई थकान निर्मल की दूर हो गई और जीवन की क्रियात्मक-स्फूर्ति से कुछ करने की इच्छा अनुभव होने लगी। निर्मल की गति और प्रवृत्ति बहिर्मुखी थी। पढ़ने की अपेक्षा उसे हाथ से कुछ करने में ही अधिक सन्तोष अनुभव होता था। स्वास्थ्य, चुस्ती और सुघरता के लिए उसकी प्रशंसा थी। भावपूर्ण कविता की अपेक्षा बैड-मिण्टन का एक सेट खेल लेना और लिखने की अपेक्षा बोलना उसे अधिक पसन्द था। समय की कमी को उसने कभी अनुभव नहीं किया था। कभी निढाल और अस्त-व्यस्त उसे किसी ने नहीं देखा।

बैरिस्टर साहब सुबह-शाम घूमकर व्यायाम करते थे। या तो वे अकेले पुरानी सड़क पर डेढ़ मील जाकर लौट आते थे या घड़ी में समय देख चाय की वीथियों में घूम लेते। हृदय वात्सल्य से छलकता रहने पर भी उनके सुबह-शाम के भ्रमण में किसी के सहयोग के लिए स्थान न था। अलबत्ता भ्रमण के लिए वे बुलबुल और निर्मल दोनों को ही नसीहत करने से न चूकते।

बैरिस्टर साहब को भ्रमण के लिए जूते पहनते देख निर्मल भी भ्रमण के लिए तैयार होने लगी। अभ्यासवश घरसे निकलने के पहले उसने मुँह-हाथ धोये और शृङ्गार की आलमारी के सामने गई। अपनी विशेष पसन्द की नीली साड़ी पहन वह घूमने चली।

वह भ्रमण के लिये गई परन्तु पैर उठते न थे। उन्हें घसीटना पड़ता था। एक अनुत्साह सा उसे निढाल किये दे रहा था। ठीक उसी तरह जैसे मोटर के पहियों से हवा निकल जाने पर होता है।

चारों ओर फैली हुई चाय की झाड़ियों, ऊँचे देवदारों और पहाड़ के ढलवानों पर दूर-दूर तक छाये हुए फूलों की उपेक्षा भरी उदासीनता एक अदृश्य दलदल की तरह उसकी गति अवरुद्ध कर रही थी। मानों, वायु की लहरों पर चलने वाला शब्द, शून्य में पहुँचकर, आगे चलने में असमर्थ हो रहा था। इसके मुकाबिले में अनारकली बाज़ार की वह भीड़, जहाँ सन्ध्या समय राह चलतों के वस्त्र का स्पर्श हुये बिना एक क़दम चलना भी सम्भव नहीं, लाहौर की दूसरी सड़कों का अनुभव जहाँ क़दम-क़दम पर उत्सुक और कौतूहलपूर्ण तीव्र दृष्टि वस्त्रों को भेद

कर शरीर की त्वचा को रोमाञ्चित करती जाती है; वहाँ क़दमों में कितनी स्फूर्ति अनुभव होती है। मानो, पैरों में स्प्रिङ्ग लगे हों!··· ·······एक विद्युत् से व्याप्त वातावरण, जो सभी ओर से आकर्षित कर शरीर को गतिमान कर देता है।

सन्ध्या के मन्द समीर में ऊँचे देवदार और बाँझ के वृक्षों से एक अस्पष्ट मरमर ध्वनि निकल रही थी। चाय की घनी झाड़ियों पर दिन-चर्या से लौटे हुए बुलबुल समाज का व्यग्रतापूर्ण कलरव छा रहा था। चट्टानों के आसपास लैन्टिना के लाल और पीले फूल सूर्य की अन्तिम किरणों में अपने तीखे निश्वास छोड़कर अलसा रहे थे। चौपतिये गुलाब मोती की गुलाबी आब की पुटले मस्ती में निश्चल थे। सब ओर आत्मसन्तोष, शान्ति और उपेक्षा भरे इस समारोह में अपना पूर्ण यौवन और परिष्कार लिये निर्मल निर्जन सड़क पर वर्षा में भीगते हुए उस मुसाफ़िर की तरह थी, जिसके लिए छत का आश्रय कहीं नहीं, जो आकाश से झड़ते मोतियों के सौन्दर्य को अनुभव नहीं करता।

निर्मल आधी ही राह लौट पड़ी। जाते समय की अपेक्षा लौटते समय उसकी गति कहीं तेज़ थी। वह शरण पाने के लिए भागी जा रही थी। चाय की वीथियों में बुलबुलों का कलरव इस समय पहले की अपेक्षा भी अधिक था। निर्मल के कानों में वह प्रेम-स्वागत नहीं, प्रत्युत दुत्कार जान पड़ रहा था। लौट कर वह बरामदे में पड़ी आराम कुर्सी पर गिर सी पड़ी, जैसे मार खाकर आई हो।

बैरिस्टर साहब ने लौटकर सन्तोष से कहा—"आज तो सैर करने गई थी निर्मल! अरे सैर से लौटने के बाद बिना गरम कपड़े के यहाँ

इस ठण्ढ में इस तरह पड़ी हो ? न-न, बेटा, भीतर जाओ ! या गरम कपड़ा लो !" और वे भीतर चले गये।

बिजली के अभाव में बड़े कमरे में पैट्रोमैक्स (गैस) जल रहा था। गैस के तीव्र प्रकाश में आदमक़द आईने के सामने पहुँच निर्मल ने गोरे शरीर पर नीली साड़ी पहने, घुँघराले बालों से भरे सिर वाली निर्मल को पहचान लिया। वही निर्मल, जो मेल-मिलाप के अवसरों पर या बाज़ार में तृषित और मुग्ध आँखों पर क़दम रखती हुई गर्व से लौटती थी। ठीक उसी तरह जिस तरह सन्तुष्ट पशु कोमल घास को पैरों से रौंद कर चलता है।

आईने के सामने पहुँचकर अभ्यस्त विजय की एक मुस्कराहट निर्मल के ओंठो पर फैल गई·······उसने पहचाना वह तो वही विजयी निर्मल है। परन्तु यहाँ वह किस पर विजय प्राप्त करे ? वह आग की लपट-सी सुन्दर निर्मल यहाँ किसे जलाये ? और जब जलाने को कुछ नहीं है, तो क्या वह बुझ जाय·······? गहरी ग्लानि के रूप में हृदय से एक निश्वास ने उठकर कहा—"कहाँ आ मरी तू !"

फोड़े को दबा कर मवाद निकाल देने से एक उत्कट पीड़ा के बाद शान्तिमिली सह्य पीड़ा शेष रह जाती है। उसी प्रकार एक वेदना लिये निर्मल आईने के सामने से हट गई। गैस का दप-दप करता प्रकाश और मनुष्य की आँखों से शून्य हॉल असह्य हो रहा था। उसके होंठ काँप उठे। मानो आखों से अभी जल बह जायगा।

वह झपटकर फिर बरामदे के बाहर अन्धकार में चली गई। तारों से छिटके आकाश के नीचे अन्धकार में, देवदारों की घटाटोप छाया में

पहुँच कर उसे मालूम हुआ कि वह ज़िन्दा ही क़ब्र में पहुँच गई है। दूर-दूर, संसार से दूर, जीवन से दूर, पृथ्वी के अन्धकारमय गर्भ की यह शान्ति है।····जीवन-रहित, निश्क्रिय, निश्चेष्ठ शान्ति उसका दम घोट रही थी और जीवन और यौवन का श्वास अपने वेग से उसके फेफड़ों को फाड़े डाल रहा था।

अचानक उसे कई आवाज़ें सुनाई दीं। आया और नौकर-चाकर चिल्लाकर पुकार रहे थे—"बीबी जी, बीबी जी !" बुलबुल परेशानी में चिल्ला रही थी—"मौसी जी, ओ मौसी जी !" और बैरिस्टर साहब पुकार रहे थे—"निर्मल, बेटा निर्मल !"

हाय ! यह उसे क्या हो गया ? झपटकर वह गुसलख़ाने में तौलिये से हाथ-मुँह पोंछती हुई बाहर निकल आई। बैरिस्टर साहब ने हँसकर पूछा—"गुसलख़ाने में क्या नींद आ गई थी ?" बुलबुल ने उसके घुटनों से लिपटकर कहा—"खाना खाने भी चलो मौसी जी !"

× × ×

पहाड़ की सैर की उमङ्ग में निर्मल तीन सूटकेसों में काफी साड़ियाँ लाई थी। दूसरे दिन विशेष परिश्रम से उसने उन सभी साड़ियों को अदल-बदलकर देखा········उनमें सबसे सादी साड़ी कौन है ?····अपने ऊपर ओढ़कर वह अपने आपको मिट्टी में मिला देना चाहती थी।

हरिया प्रति दूसरे दिन ११ बजे पालमपुर जाता था। डाक छोड़ने और डाक के साथ बाज़ार से दूसरा सामान लाने। इसलिए निर्मल बरामदे में फैली प्रातःकाल की धूप में बैठ, पीठपर बिखरे केशों की धूप-छाया में अपनी सहेली हेमा को यह पत्र लिख रही थी:—

"....पहाड़ों के इस भयङ्कर निर्जन में मन पर एक कैसा बोझ-सा अनुभव होता है ? जान पड़ता है, सजीव ही क़ब्र में दबा दिया गया है जहाँ से अपनी आवाज़ भी संसार के कानों तक नहीं पहुँच सकती....। जीवन की व्यर्थता साकार सामने खड़ी होकर पूछती है—तुम ज़िन्दा क्यों हो और ज़िन्दा हो, इसका प्रमाण क्या है ?................ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हैं, बड़े-बड़े पेड़ हैं, फूल भी बहुत हैं, पक्षी भी चहचहाते हैं; परन्तु मनुष्य के सुख-दुख की उन्हें कुछ परवाह नहीं। मानों, मनुष्य धूल में रेंगनेवाला एक कीड़ा मात्र है........।

"........मेरा विचार था—पहाड़ की जलवायु से स्वास्थ्य को लाभ पहुँचेगा। परन्तु यहाँ अनुभव होता है एक निढालपन....मन पर एक दबाव, सुबह-शाम दिसम्बर का सा जाड़ा लगता है। और वायु, मानो सूखे पत्तों की तरह उठाकर हमें घृणा से नीचे फेंक देना चाहती है और धमकाती है—"तुम यहाँ आई क्यों........?" चाहती हूँ किसी वायु के झोंके से उड़कर लाहौर पहुँच जाती।.... मुझे गरमी मंज़ूर है, पसीना मंज़ूर है ; परन्तु इस डरावनी निर्जन शान्ति से भय लगता है........।

"....बुलबुल एक पिल्ले से खेलती रहती है या दूसरे-दूसरे पहाड़ी बच्चों के साथ खेला करती है। उसे देख सोचती हूँ—क्या अनुभव न करना सुख है तो शायद मृत्यु सबसे बड़ा सुख हो। ताऊजी चुपचाप पहाड़ों और पेड़ों को देखा करते हैं या घड़ी लेकर अपनी नब्ज गिनते रहते हैं। मानों, चिर-शान्ति, और चिर-एकान्त के लिए मन को अभ्यास करा रहे हैं। सोचती हूँ—यहाँ से भाग निकलूँ। परन्तु ताऊजी से क्या कहूँगी ? अभी तो बारहवाँ ही दिन है और मैं यहाँ आई हूँ; चार मास

के लिए ! कमल बहन जी को चिट्ठी लिखनी है; पर आज पहले तुम्हीं को लिख रही हूँ । मिलें तो कह देना बुलबुल मज़े में है और ताऊजी भी·······।"

सोग की-सी अवस्था में लम्बे-लम्बे परन्तु दबे हुये साँस खींचकर निर्मल ने दिन बिता दिया। सन्ध्या समय हरिया पालमपुर से डाक और सौदा लेकर लौटा। निर्मल वानप्रस्थी मनोवृत्ति में बरामदे में टहल रही थी। हरिया ने डाक उसके सामने छोटा मेज़ पर रख दी और सौदे का सामान दिखाकर चला गया।

डाक में कुछ अखबार, तीन-चार पत्र बैरिस्टर साहब के नाम और दो स्वयं उसके नाम थे। इनमें से एक के लिफ़ाफ़े पर बहन कमल के हाथ के अक्षर थे और दूसरे पर हेमा के।

हेमा निर्मल की अन्तरङ्ग सखी थी। इस उदासी में उसका पत्र पा हृदय में एक गुदगुदी-सी अनुभव होने लगी। शेष डाक को छोड़, उसी पत्र को ले वह तुरन्त के जले पैट्रोमैक्स के प्रकाश में पढ़ने भीतर चली गई। दो दफ़े पूरा पत्र पढ़ चुकने के बाद भी वह फिर तीसरी दफे पत्र पढ़ने लगी :—

"·········नगरों का जीवन कितना घृणित है ? पुरुषों का व्यवहार कितना घृणापूर्ण होता है ? बाज़ार में सड़क पर जहाँ देखो वे अपनी भूखी दृष्टि की चोंचें मार-मार कर स्त्रियों के शरीर से मांस नोच लेना चाहते हैं। स्त्रियों को दुःख देने में आखिर उन्हें क्या मिलता है ! स्त्री करे तो क्या ? ज़रा घर से बाहर निकलते ही शव पर मँडराते हुए चील-कौवों की तरह बेहया नज़रें घेर लेती हैं। क़दम उठान

दूभर हो जाता। इस शरीर का क्या किया जाय? क्या ज़मीन में गाड़ दें? तभी शान्ति मिलेगी? मैं सोचती हूँ—कहीं कोई एकान्त स्थान पृथ्वी के किसी कोने में मिल जाता तो स्वतन्त्रता की साँस ले सकती।

"·····मकान से निकलते ही दो-एक पीछे लग जायँगे और शिकारी कुत्तों की तरह पीछा किया करेंगे। सोचती हूँ, इससे इन्हें क्या लाभ? और हमारा ही इसमें क्या नुक़सान? फिर भी मालूम होता है कि यह नज़रों के धक्के बावला-सा कर देते हैं। धक्कों ही धक्कों में पैर ज़मीन से उठ कर सिर चकराने-सा लगता है। चाहती हूँ, इस शहर को छोड़ कर कहीं एकान्त में चली जाऊँ, जहाँ यह पुरुष न हों·······।"

जब तक निर्मल पत्र को पढ़ती रही, जीवन की एक उष्णता उसे घेरे रही; परन्तु पत्र समाप्त कर एक ओर करते ही, मानो एकान्त निर्जनता की क़ब्र का बोझ हृदय पर आ पड़ा। वह घबरा कर फिर तुरन्त पत्र को पढ़ने लगी।

पत्र समाप्त होते ही उसे बुलबुल की पुकार सुनाई पड़ी—"मौसी जी, ओ मौसीजी, आओ न!" मानो बुलबुल बहुत दफ़े पुकार कर खिझला उठी है।

भोजन के बाद फिर वही पत्र! निर्मल पत्र को छोड़ना ही न चाहती थी। मानो—पत्र में भरी 'शिक़ायत' के शब्द कानों में समाप्त होते ही संसार समाप्त हो जायगा।

नौ

गुडबाई दर्दे-दिल........!

मंसूरी की एक ख़ूब ढलुआ सड़क पर रिक्शायें आ-जा रही थीं। कुछ लोग पैदल आ-जा रहे थे। नीचे की तरफ़ जानेवाले लोग तेज़ी से जा रहे थे और ऊपर की ओर जानेवाले हाँफते हुए। रिक्शा की घंटियों की आवाज़, पहियों की घरघराहट और रिक्शा कुलियों के हाँफने की आवाज़ आ रही थी। कुलियों के शरीर से पसीना बह रहा था। कुली बार-बार चिल्लाते थे—"बच के बाबू साब! बचो हुज़ूर! रोक के! ....जोर लगाओ! दायें जोर!........बायें खींचो!"

एक रिक्शा जिसमें दो युवक सवार थे बहुत धीमें चल रही थी। रिक्शा का एक सवार क्रोध में कुलियों से बार-बार जल्दी चलने के लिये कह रहा था। कुली और ज़ोर से हाँफते थे और आपस में एक दूसरे के ज़ोर न लगाने की शिक़ायत करते थे।

दोनों सवारों में से एक ने कहा—"रणजीत, यार उतर जाओ।

इससे तो कहीं जल्दी पैदल पहुँच जाते। यह लोग नहीं खींच सकेंगे। चढ़ाई ज़्यादा है।"

रणजीत ने उत्तर दिया—"नहीं तुम बैठों, ए कुली ! चलता क्यों नहीं ?.......तमाशा करता है ?"

कु०—"हुज़ूर बहोत सख्त ऊँचा है। चढ़ाई में हुज़ूर ऐसा ही जाता है।"

—"उतरो यार रणजीत !..........हटाओ इस झगड़े को !........ बहुत बुरा मालूम होता है।"

र०—"नहीं केशव, धूल से जूते और पैण्ट ख़राब हो जायेंगे।.... ....अभी पहुँचे जाते हैं........" कुलियों को सम्बोधनकर उसने डाँटा—"नहीं चलेगा तो हम अभी उतर जायगा—क्यों तुम कमज़ोर आदमी लाता है ? देखो, कितनी रिक्शा आगे चली गई ?"

के०—"अरे ज़ोर क्यों नहीं लगाता तुम लोग ?"

कुली और ज़ोर से हाँफने लगे। रिक्शा दाईं ओर घूमकर खट से पहाड़ की चट्टान से टकरा गयी।

"हैं, यह क्या ?"—कहकर रणजीत रिक्शा से कूद गया।

के०—"हैं, कुली गिर गया ?—अरे देखो-देखो क्या हो गया इसे !"

एक कुली—"मर गया;........बेहोश हो गया !"

दूसरा कुली—"साँस चलता है..........ओ रमियाँ तू जा जल्दी पानी ला।"

रणजीत ने खिन्न स्वर में केशव से पूछा—"अब क्या होगा ? यहाँ रिक्शा कैसे मिलेगी ?...पहुँचेंगे कैसे ? यह लोग बड़े बदमाश हैं।...

केशव अब क्या करेंगे ? इन बरसाती कोटों और टैनिस के रैक्टों को कौन उठायेगा ?"

—"देखो रणजीत, अब पैदल ही चले चलो !"

—"नहीं-नहीं,....ए कुली किधर जाता है वो ?"

कु०—"हुजूर कुली गिर पडा, उसके लिये पानी लेने जाता हूँ।"

र०—"उसे बोलो एक रिक्शा लेकर आये !"

के०—"क्या करते हो रणजीत ! जब तक रिक्शा आयेगी, हम कोठी पर पहुँच जायेंगे।"

जाती हुई एक खाली रिक्शा की ओर संकेत कर रणजीत ने कहा—"यह लो ! आ गई खाली रिक्शा।"

वेल रिक्शा, घुमाओ ! पीछे को लौटो—उसने नई रिक्शा को पुकारा।

दोनों व्यक्ति रिक्शा में बैठ कर चल दिये।

पहली रिक्शा के एक कुली ने पुकारा—"हुजूर हमारा पैसा ?"

र०—"तुम्हारा पैसा कैसा ? तुमने हमको रास्ता में छोड़ा ...हमारा वक्त ख़राब किया.......कोई पैसा नहीं।"

रिक्शा के चले जाने के बाद चुटिया कर गिरे कुली के चारों ओर आदमी इकट्ठे हो गये। एक पैदल जाने वाले सज्जन ने उस ओर देख कर पूछा—"इस कुली को क्या हुआ ?"

कु०—"हजूर गिर गया—दम फूल के गिर गया।"

झुक कर यह सज्जन बोले—"इसका सांस तो चलता है, मुँह में पानी डालो। इसके मुँह से खून कैसा गिर रहा है ?"

कुली—"सड़क का पत्थर लग गया हुजूर !"

दूसरे सज्जन—"क्यों तुम लोग यह जानवर का काम क्यों करता हे ? तुम जानवर है जो गाड़ी खींचता है ?"

—"हुजूर पेट का वास्ते........।"

दूसरा सज्जन—"अरे भाई इनका कसूर क्या ?........कसूर है उन लोगों का जो इनकी ग़रीबी का फ़ायदा उठाकर इन्हें इन्सान से हैवान बना देते हैं ?"

भीड़ में से एक सज्जन ने द्रवित स्वर में कहा—'अरे इसे हस्पताल क्यों नहीं पहुँचाते। शायद बच ही जाय।....मि० सिनहा, तुम चले जाओ, इन कुलियों के साथ। इसे हस्पताल पहुँचवा दो !"

सिनहा—"हस्पताल ले जाऊँ ?........पर कौन से हस्पताल ? इन्सानों के या हैवानों के ?........और अगर दोनों ही हस्पतालों ने इसे लेने से इन्कार कर दिया........?"

दर्द भरे स्वर में गाते हुए वे चले गये :—

"दर्दे दिल के वास्ते पैदा किया इन्सान को, वर्ना तायत के लिये कम न थे कार्रोबयाँ !"

× × ×

बँगले के सामने लॉन में टेनिस का खेल ख़त्म होने के बाद लोग चाय पी रहे थे।

एक युवती ने पुकारा—"लिली, तुम्हारी इन्तज़ार में तो चाय ठंडी हो गई।"

लि०—"दीदी आई, एक मिनट........!"

समीप ही ग्रामोफोन पर रिकार्ड बज रहा था—

"उमरिया बीत गई सारी, न आया मन का मीत·······

धोखा खानेवाले नयना हरदम धोखा खाते हैं·······।

हँसकर लिली ने कहा—"शशि दीदी, धोखा नहीं !···देखो,··· सचमुच···वो आते हैं।"

कुत्ते के भोंकने और रिक्शा की घण्टी की आवाज़ सुन लिली ने पीछे घूम आती हुई रिक्शा की ओर देखा—रणजीत और केशव रिक्शा में से उतरकर आ रहे थे।

रणजीत ने रिक्शा में दो रुपये फेंक दिये।

कुली—"हुजूर कुछ बकशीश मिलता !"

केशव—"अरे ! आठ आना तुम को बकशीश दिया और क्या लेगा ? जाओ, तुम्हारे लालच का ठिकाना नहीं।"

पहली रिक्शा का कुली जो साथ-साथ दौड़ता आया था, उसने पुकारा—"हुजूर हमारा रिक्शा का पैसा। हमारा रिक्शा तो हुजूर ने पहले किया था !"

र०—"किया था तो तुमने हमको पहुँचाया ? हम पैसा उसको देगा जो हमको पहुँचायेगा।"

केशव ने विस्मय से कहा—"क्या जानवर है, मरते आदमी की फिक्र नहीं !·······पैसे के लिये दौड़ा आया है।"

कु०—"हुजूर हमारा आदमी मर जायगा तो हम क्या करेगा?"

लिली के पिता ने सहमकर पूछा—"हैं ? क्या आदमी मर गया ? ·······आदमी कैसे मर गया ?"

उपेक्षा से रणजीत ने कहा—"ओ, नथिंग लाइक दैट···ऐसे ही दम फूल कर गिर पड़ा।"

वृद्ध ने कुली की ओर देखकर पूछा—"क्या तुम्हारी रिक्शा का कुली था ?"

कुली की ओर देखकर रणजीत ने उत्तर दिया—"जी हाँ, देखिये तो इन लोगों का लालच ! जिस्म में ताक़त नहीं है तो तुम रिक्शा खींचने क्यों आते हो ? अपने पैसों के लिये दूसरे आदमी का वक्त ख़राब करेंगे·······बेशरम कहीं के !"

कुली को धमकाने के लिये केशव ने कहा—"क्यों तुम ऐसा कमज़ोर आदमी लाया ! तुमने हमारा सवा घण्टा ख़राब कर दिया।"

लिली—"सवा घण्टा ?···डैडी, हम तो लायब्रेरी से यहाँ सैंतीस मिनिट में पहुँच जाते हैं। और रणजीत भाई रिक्शा पर सवा घण्टे में !"

उसकी बात न सुन केशव ने कहा—"कई दिन से कुछ कसरत नहीं हो पाती। बैठे-बैठे बदन मिट्टी हो रहा है ?"

लिली के समीप पहले से बैठे हुए युवक ने कहा—"लेकिन लायब्रेरी बाज़ार से यहाँ तक पैदल आने में तो पूरी कसरत हो जाती है।"

रणजीत ने इस तिरस्कार का उत्तर देते हुए कहा—"पैदल चलना एक बात है, कसरत दूसरी बात। सड़क पर पैदल आवारागर्दी करना क्या अच्छा लगता है ?···Does not look decent !'

किसी को भी न सुनाकर वृद्ध ने नेत्र मूँद प्रार्थना की—"भगवान ! इससे पहले कि मुझे लोगों के कन्धों पर चढ़कर चलना पड़े, मुझे इस दुनिया से उठा लेना !"

शशि अब तक चुपचाप सुन रही थी। सीने पर हाथ रखकर घबराहट से उसने कहा—"मैं ज़रा जाऊँगी !"

रण०—"क्या बहुत थक गई टेनिस में ?"

लिली ने धीमे से बताया—"नहीं, दीदी का दिल बहुत कमज़ोर है, उस दिन बिल्ली ने कबूतर को पकड़ लिया था तो दीदी रो पड़ी थीं।"

परिस्थिति सँभालने के लिये रणजीत ने कहा—"हूँ ?···ए कुली, यह लो पाँच रुपया ! जाओ सिर न खाओ !"

× × ×

शशि और रणजीत लान में देवदारों की टहनियों में से छनकर आती हुई चाँदनी में बॅच पर बैठे थे। निस्तब्धता भंग करते हुए रणजीत ने कहा—"शशि,·······शशि !·······क्यों, चुप क्यों हो ?"

शशि—"हाँ, क्या कहते हैं ?·······कहिये !"

गहरी साँस लेकर रणजीत ने कहा—"मैं चाहता हूँ···आज तुम ही कहो···मैं तो कई दफ़े कह चुका हूँ ?"

उसकी ओर न देख सिर झुका कर शशि ने पूछा—"आज क्या थक गये ?"

रण०—"कैसी बातें कर रही हो शशि ?···तुमसे कहने में थक जाऊँगा मैं ?···यही तो ज़िन्दगी की एक साध है ?

बँगले से गाने की आवज़ आ रही थी—

'उम्रे दराज़ माँगकर लाया था चार दिन
दो आरज़ू में कट गये दो इन्तज़ार में ?'

रणजीत ने मुस्कराकर कहा—"देखो शशि, लिली मेरी वक़ालत

कर रही है।.......क्या सच मुच मेरी ज़िन्दगी आरज़ू और इन्तज़ार में ही कट जयगी ?"

दूर क्षितिज की ओर देखकर शशि ने उत्तर दिया—"आरज़ू और इन्तज़ार।....मैं सोचती हूँ, एक बहुत बड़ी आरज़ू दिल में पैदा करूँ और फिर एक मुद्दत तक इन्तज़ार करती रहूँ। छोटी-छोटी आरज़ुएँ किस काम की। आये दिन वह पूरी हो जाती हैं और फिर ज़िन्दगी ऐसे भटकने लगती है जैसे इसका कुतुबनुमा खो गया हो।"

लम्बी साँस लेकर रणजीत ने कहा—"लेकिन मेरी ज़िन्दगी की आरज़ू इतनी मुश्किल है कि शायद उसे दिल में लेकर ही एक दिन मैं आँखें बन्दकर लूँगा....और शशि, उसके लिये कुछ ग़म भी नहीं.... अगर एक आरज़ू में ज़िन्दगी ख़त्म हो जाय तो क्या बुरा है.......मुझे इसी में संतोष है। दर्द दिल की दौलत ज़िन्दगी में मैंने पाई है, उसी को लेकर ज़िन्दगी काट रहा हूँ।"

शशि—"दर्द.......दर्दे दिल.......कितना प्यारा शब्द है रणजीत ! जिसके मज़े में तमाम ज़िन्दगी गुज़ार दी जा सकती है। सच कहती हूँ रणजीत ! जब तुम विलायत में थे, तुम्हारी चिट्ठी के लिये मैं बरामदे में बैठी पोस्टमैन का इन्तज़ार किया करती थी। खाना खाने के लिये लोग बुलाते तो मालूम होता, फ़िज़ूल तंग कर रहे हैं। इन्तज़ार में कभी घड़ी की तरफ़ देखती—कभी पेड़ों की छाया की तरफ़.......।

"और जब पोस्टमैन आता सिर्फ़ दूसरी चिट्ठियाँ लिये तब मैं बिस्तर पर औंधे मुँह लेट जाती। अब याद आता है तो सोचती हूँ—कितने मीठे और अच्छे दिन थे वे....!"

उत्साह से रणजीत ने पूछा—"और फिर·········!"

शशि—"और फिर मैं सुबह चाय पीने न जाती। खानसामा चाय की ट्रे मेरे कमरे में रख जाता। मैं खाने का सामान उठाकर खिड़की से बाग़ में फेंक देती·········!"

एक लम्बी साँस लेकर रणजीत ने कहा—"फिर····?"

शशि—"फिर माली और साइस के बच्चे उन टुकड़ों के लिये झगड़ते और उनकी माँयें इस वजह से आपस में झगड़तीं।"

रस भंग से विक्षिप्त हो रणजीत ने कहा—"जानवर कहीं के फिर!"

शशि—"फिर मैं सोचती; काश यह लोग दर्द-दिल का मज़ा जानते तो इन टुकड़ों पर जान क्यों देते।"

रण०—"खूब! शशि तुम बड़ी मसखरी हो····फिर!"

शशि—"फिर मुझे नींद न आती। मैं खिड़की में सिर रखे पड़ी रहती और सुनती ।"

उत्साह से रणजीत ने पूछा—"क्या सुनतीं!"

शशि—"भैया क्लब से आधी रात गये आते गुनगुनाते हुए····लख़्ते जिगर खाने को है, ख़ूने जिगर पीने को। यह गिज़ा मिलती है लैली तेरे दीवाने को!" एक और बहुत धीमी-सी आवाज़ आती—"हुजूर आ गये?"····इस आवाज़ को मैं पहचानती थी····"

कौतूहल से रणजीत ने पूछा—"किसकी आवाज़ थी वह शशि?"

शशि—"हमारे कश्मीरी बावर्ची की बड़ी लड़की की।"

आश्चर्य कौतुहल से रणजीत ने कहा—"सचमुच फिर····?"

शशि—"फिर भैया कोमल स्वर में कहते, नसीरन, अभी तक जाग

रही हो ?....उदास क्यों हो नसीरन ?....अच्छा मुस्कराओ एक बार ?"

रणजीत ने उत्साह से कहा—"यह बात, ! सचमुच, बड़े दिल फेंक हैं ! ख़ूब, अच्छा फिर !"

शशि—"फिर दो-चार रुपयों के खनकने की आवाज़ आती और एक ऐसी आवाज़ आती जैसे नन्हें से बच्चे को प्यार करते समय आती है, समझे !"

रोमांच पुलक से जाँघ पर हाथ मारकर रणजीत ने कहा—"ओ माई गुडनेस ! वेरी रोमाण्टिक....हाँ, आगे....?"

शशि—"मैं सोचती, यह दर्द-दिल की दवा है....यह इन्सान के दिल और जिस्म का मोल है !....सब कुछ ख़रीदा जा सकता है....।"

रण०—"शशि, मेरा यह दर्द से भरा दिल तुम्हारे क़दमों में....।"

शशि—"हाँ ; और तुम्हारे क़दमों में पाँच रुपये में ख़रीदे हुए आदमी की लाश........?"

चौंककर रणजीत ने पूछा—"क्या मतलब........?"

शशि उठकर बंगले की ओर चल दी।

व्याकुलता से रणजीत ने पुकारा—"सुनो, कहाँ जाती हो ! एक बात सुनो ! एक बार....!"

हाथ हिलाकर शशि ने उत्तर दिया—"गुडबाई दर्द-दिल ?"

दस

जहाँ हसद नहीं

नूरहसन अपने जीवन से सन्तुष्ट था। रेलवे वर्कशाप में पक्की नौकरी और घर पर नेक बख़्त बीवी। बीवी को वह गाँव से ले आया था। बुल्लू चौधरी के अहाते में एक छोटा सा मकान लेकर वह रहता था। मकान छोटा था परन्तु पर्देदार, क्वार्टरों के ढंग का। मकान एक ही था परन्तु जीने अलग-अलग होने और ऊपर सेहन में एक ईंट के आदम क़द दीवार बनाकर दो मकान बना दिये गये थे। नूरहसन दाईं तरफ़ के हिस्से में रहता था। न किसी से लेना, न किसी का देना, वर्कशाप में काम और घर पर आराम।

एक सफेद बुरका उसने बीवी के लिए सिलवा दिया था। एतवार के दिन बीवी को बुरका ओढ़ाकर तीसरे पहर सैर को लिवा ले जाता। कहीं किसी छाबड़ी वाले के पास कोई अच्छा फल या मिठाई बीवी को पसन्द आ जाती तो वह इशारा कर दो क़दम हटकर खड़ी हो जाती और नूरहसन खरीद लेता। घर लौटकर दोनों खाते। दोनों नेकबख़्त

और सआदतमन्द। अपने काम से और अल्लाह से वास्ता। जब कभी एतवार को भी की ड्यूटी वर्कशाप में पड़जाती तो सआदत बीवी को बहुत बुरा मालूम होता। परन्तु नौकरी का मामला था, मजबूरी थी।

सआदत मचिया पर बैठ धूप में बाल सुखाकर कंघी कर रही थी। बीच-बीच में वह नीले आकाश में उड़ती रंग-बिरंगी पतंगों के दाँव पेंच भी देखती जाती थी। सामने की छत पर हिन्दू स्त्रियाँ चटाई बिछाकर बड़ियां तोड़ रही थीं। जाड़े की धूप में अलसाकर वह कंघी से अपने बाल और उँगलियों से कंघी को साफ कर रही थी। किसी की आंखें वहाँ पहुँच कर उसे छेड़ नहीं सकती थीं। योंही बाईं ओर नज़र उठाकर उसने देखा तो दीवार के परे से दो आँखें उसकी ओर देख रही थीं। घबराकर वह उठी और भीतर भाग गई परन्तु भीतर जाते-जाते उसने एक बार फिर घूमकर देखा; सचमुच ही वह उसकी ओर देख रहा था।

सआदत जानती थी, जो लोग दूसरों की औरतों को देखते हैं वे भलेमानस नहीं होते। बदमाशों की नजर कैसी होती है, यह तो वह ठीक नहीं जानती थी परन्तु इस नज़र में कोई तेज़ी न थी जिससे वह डर जाती। लेकिन फिर भी उसे कोई क्यों देखे? उसने भीतर बैठकर चोटी बाँधी और दुपट्टा सिर पर लिया। कंघी में से निकले बाल मोरी में फेंकने गई तो उसने एक बार फिर जानना चाहा अब तो नहीं वह देख रहा? वह देख रहा था। पर उसी तरह; प्रतीक्षा की आतुर नज़र से; झपट लेने वाली तीखी नज़र से नहीं।

"जाने दो अपने को क्या"—सआदत ने सोचा और चूल्हा जला-

कर खाना पकाने में लग गई। यह उसे मालूम था कि उस ओर औरत कोई नहीं रहती ; कभी देखी जो नहीं।

रात में उसने मियाँ से कोई ज़िक्र नहीं किया, ज़रूरत भी न थी। दूसरे-तीसरे दिन उधर उसे कोई दिखाई न दिया। लेकिन चौथे दि उधर से सूखने डाला हुआ एक तहमत उड़कर इधर आ गिरा। सआदत ने सोचा—"होगा अपने को क्या?" फिर ख़याल आया—"बेचारा योंही परेशान होगा!" तहमत उठा, तहा कर उसने दीवार पर रख दिया परन्तु उधर देखा नहीं। बाद में उसे मालूम हो गया कि उध से देखनेवाली आँखें सुबह नौ बजे से पहले और शाम को पाँच बजे के क़रीब ही देखती हैं। होगा अपने को क्या? उसने सोचा लेकिन आँगन में जाने पर वह देख लेती थी, देखती तो नहीं?

एक दिन 'उसने' सलाम कर दिया। सआदत शर्मा गई। ऐसे तो नहीं करना चाहिये—उसने सोचा। लेकिन बुरी बात तो कोई की नहीं। शिक़ायत की बात तो कोई है नहीं। होगा, अपने को क्या? उसने सोचा—है तो मर्द पर सीधा है।

नूरहसन के वर्कशाप से लौटने का समय होता तो वह खिड़की की राह चिक से देखने लगती। उस दिन उसे देर हो गई थी। बड़ी चिन्ता से वह राह देख रही थी और जब नूरहसन दूर से लकड़ी टेकता लँगड़ाता आता दिखाई दिया—सआदत के सिर मानो पहाड़ टूट पड़ा। दौड़ी हुई जीने से लपक कर नीचे गई।

"हाय हाय! यह क्या हुआ?" वह मियाँ से लिपटकर रोने लगी। सहारा दे जीने पर चढ़ाकर ऊपर लाई। नूरहसन के घुटने पर एक भारी

बेध्यान गिर जाने से उसका घुटना सूज गया था। आधीरात तक सआदत ने नमक की पोटली से सेंक किया और फिर तकिये से रुई निकालकर पट्टी बाँध दी। घुटने को गोद में लिये उसने सारी रात बिता दी। परन्तु सुबह तक घुटना सूजकर दूना हो गया। नूरहसन के लिये हिलना मुश्किल। करे तो क्या!

चिन्ता से नूरहसन ने कहा—"छुट्टी की अरज़ी वर्कशाप कैसे भिजवाऊँ?" दवाई तो भला सआदत बुर्का ओढ़कर पंसारी की दूकान से ला सकती थी। सआदत ने बताया—"दीवार के परे एक मुसलमान भाई रहता है। हाय इतना तो करही देगा। इसमें क्या है?"

बहुत सोच-समझकर नूरहसन लकड़ी के सहारे आँगन की दीवार तक पहुँचा और पड़ोसी को पुकार, सलाम कर उसने अपनी बिपता सुनाई।

बड़ी हमदर्दी से पड़ोसी ने कहा—"तुम खाट पर लेटो। मैं आकर सब कर देता हूँ।" थोड़ी देर में नीचे से जीने की सांकल खटकी। सआदत को खोलने जाना पड़ा। बुरका ओढ़कर वह गई और सांकल खोल पड़ोसी से आगे ऊपर चढ़ आई।

पड़ोसी का नाम था हबीब। यही कोई अठाइस तीस बरस का शरीफ़ जवान रेल के दफ़्तर का बाबू। उसने अरज़ी लिखकर पहुँचा देने की तसल्ली दी और पंसारी के यहाँ से दवाई का सामान और तरकारी मसाला तक बाजार से पहुँचा दिया। शाम को फिर आकर वह ज़रूरत की बात पूछ गया। इसी तरह लगातार तीन-चार दिन तक चला। सआदत ने सोचा—"भला आदमी है सो तो पहले ही मालूम होता था।"

नूरहसन के घुटने का हाल बिगड़ता ही गया। हक़ीम ने राय दी—"हस्पताल ले जाओ !"

सआदत रोने लगी। ग़रीब मज़दूर को हस्पताल में कौन पूछता ? लेकिन हबीब ने अंग्रेज़ी बोलकर काम ठीक से करा दिया।

नूरहसन के घुटने का ऑपरेशन हुआ। सआदत रोज़ खाना बनाकर तैयार करती और हबीब सुबह-शांम उसे हस्पताल संग लेजाता और लिवा लाता परन्तु सिवा सलाम के कोई बात नहीं। इसके बाद वह खुद अपना खाना बनाता। नूरहसन और सआदत दोनों लड़के की तारीफ़ करते और शुक्रिया अदा करते।

एक दिन सआदत से न रहा गया। उसने बुरके की आड़ से कहा—"हस्पताल से लौटकर चूल्हा किस तरह जलाओगे ? अपना आटा पकड़ा देना। तुम्हारे भी दो मण्डे (रोटियाँ) सेक दूँगी।"

"क्या तकलीफ़ करोगी ? तुम खुद मुसीबत में हो !"—हबीब ने जवाब दिया।

"मुसीबत तो है; पर तुम इतना कर रहे हो। इतना कोई क्या दूसरा करता है ?"—सआदत हबीब की भी दो रोटियाँ सेंक देती और वहीं उसे खिला भी देती। अब उससे बुरका क्या करे ? यों ही सिर पर दुपट्टा रख लेती और फिर उसने उसे देखा तो हुआ ही था।

नूरहसन का घुटना आहिस्ता-आहिस्ता ठीक हो रहा था। ईद आ गई। हबीब ईद के लिये कुछ फल वल लेकर आया। सआदत ने भी उस दिन नये कपड़े पहने थे। आकर हबीब ने कहा—"सलाम ! ईद मुबारिक।"

हँसकर सआदत ने भी 'ईद मुबारिक' कहा। एक रकेबी में पुलाओ निकालकर उसने हबीब के सामने रखा और कहा—"खाओ !"

"नहीं—हबीब ने सिर हिला दिया।

"क्यों ?"

"ऐसे ही !"

"तब भी खाओ न, आज तो ईद है।"

"हाँ, पर तुमने हमसे ईद कहाँ मिली ?"

"हाय अल्लाह"—शर्माकर सआदत ने कहा—"ऐसा भी कहीं कहते हैं, खाओ न ?"

"जाने दो, नहीं खायेंगे।" उदास होगया।

हबीब के वे सब अहसान सआदत की आँखों के सामने आ गये। कितना भला और सीधा आदमी है। बेबस होकर उसने कहा—"अच्छा" और शर्मा कर खड़ी हो गई।

हबीब ने ईद मिली और उसका माथा चूम लिया। सआदत के गाल सुर्ख हो गये। उसने आँखें झपकालीं। हबीब ने पूछा—"नाराज होगई क्या ?" उसने सिर हिलाकर इनकार कर दिया।

हबीब ने कहा—"आओ एक साथ खायेंगे।"

सआदत घबराई लेकिन हबीब के अपने सिर की कसम देने पर उसे मानना पड़ा। दोनों ने साथ खाना खाया।

हबीब सआदत को हस्पताल से वापिस लाता तो वहीं खाना खाकर लौट जाता। अब वह कुछ देर तक बैठने लगा, कुछ देर बातें होतीं। सआदत ने पूछा—"अपने हाथों चूल्हा फूँकते हो, ब्याह क्यों नहीं कर लेते ?

हबीब ने कहा—"मेरा कोई है ही नहीं। ग़रीब आदमी हूँ। मेरी कौन फ़िक्र करता है ?" सआदत के दिल में बरछी लगी। उस दिन से वह उससे और स्नेह से बात करने लगी। दोनों सुबह-शाम घंटा डेढ़ घण्टा भर एक साथ बैठते।

नूरहसन का घुटना ठीक हो गया और वह घर लौट आया। सआदत ने अल्लाह का शुक्र किया और पीर की मन्नत पूरी की। अबभी हबीब उनके घर आता जाता था। नूरहसन जानता था हबीब अच्छा आदमी है। परन्तु पड़ोस की चुगलियों को क्या करे ? उसने सआदत से कहा—"मकान बदल लें।" सआदत ने कहा—वह कहीं न जायगी चाहे उसके टुकड़े कर दो।

दुखी होकर नूरहसन ने कहा—मैं तुझे तलाक़ दे दूँ फिर चाहे तू जहाँ खाक फाँकना। पर सआदत न मानी। उसने उत्तर दिया, उसके बिना वह जी ही नहीं सकती।

क्रोध से नूरहसन की आँखें लाल हो गई। जिस लाठी को टेक कर वह चलता था, उसीसे उसने सआदत को खूब पीटा। सआदत ने मार खाई परन्तु चूँ नहीं की। नूरहसन ने धमकी दी—"अगर अब तूने दिवार से झाँककर बात की तो मैं तुझे क़त्ल कर दूँगा और तेरे उस यार को भी क़त्ल कर दूँगा !"

सआदत अब आँगन में जाती तो आँखें नीची किये रहती। तीन दिन तक उसने आँखें ऊपर नहीं उठाईं। चौथे दिन ईंधन लेने वह खुली छत पर गई तो एक पुरज़ा उसके पैरों के पास आ पड़ा।

जिस दिन नूरहसन की ड्यूटी रात में वर्कशाप में रहती, रात में वह बाहर से ताला लगाकर जाता और आधी रात में लौटता। सआदत ने पुर्जा खोलकर लालटैन के सामने रखकर पढ़ा। मोटे-मोटे अक्षरों में उसमें लिखा था—"प्यारी जान सआदत ! तुम बड़ी बेरहम हो। तीन दिन से तुम्हारा मुँह देखने को नहीं मिला। आँखें तरस गईं। दस बजे तक ओस में खड़ा तुम्हारी राह देखा करता हूँ पर तुम दिखाई नहीं देतीं। आज क़सम कर ली है, तुम्हारा मुँह नहीं देख लूँगा तो मुझे लुक़मा हराम है। तुम्हारा गुलाम—हबीब।"

सआदत झपटती हुई बाहर आई। दीवार पर से उचक कर उसने देखा—सचमुच हबीब उसके घर की ओर मुँह किये खड़ा था। उसने उसे पुकार कर कहा—"पागल हो ? खाना क्यों नहीं खाया ? तुम नहीं जानते मैं बेबस हूँ ! जाओ खाना खाओ !"

हबीब ने कहा—"जाने दो, बनाया ही नहीं।"

"ठहरो मैं लाये देती हूँ।"

"क्यों मियाँ कहाँ हैं ?"—हबीब ने पूछा।

"रात की ड्यूटी पर गये हैं।"

"वहीं आजाऊँ, तुम्हारे पास घण्टा भर बैठूँगा।"

सआदत ने सिर झुकाकर मान लिया। दीवार कूदकर हबीब सआदत के घर आ गया। कटोरी में दाल और तश्तरी में रोटी उसने हबीब के सामने रख दी। हबीब खाने लगा परन्तु लालटैन की रोशनी में सआदत के माथे की चोट देखकर उसने पूछा—"यह क्या ? मियाँ ने मारा है !"

सआदत रोने लगी। हबीब ने खाना छोड़ दिया। उसकी आँखों से आँसू गिरने लगे। सआदत अपने हाथ से लुक़मे तोड़ उसे खिलाने लगी परन्तु हबीब को मालूम होता था वह रेत चबा रहा है।

दोनों खाट पर लेट बातें करने लगे। उन्हें पता न लगा समय कब और कहाँ बीत गया। जीने में नूर हसन की टेकने की लकड़ी की आहट पा हबीब उठकर भाग गया।

ऊपर आकर नूरहसन को कुछ सन्देह हुआ। उसने पूछा—"हबीब आया था!"

सआदत रोने लगी। नूरहसन अपना सिर पकड़कर बैठ गया। वह सोच रहा था, वह क्या करे! औरत को मारने से फायदा क्या? उसने ज़िन्दगी में एक ही दफ़े ऐसा किया और वही आखिर भी थी। वह दरअसल सआदत को प्यार करता था। उसकी सचाई उसे क़ायल कर देती थी। परन्तु ज़िल्लत की जिन्दगी!

"तूही बता मैं क्या करूँ सआदत!"—उसने पूछा।

फ़र्श की ओर देखते हुए सआदत ने उत्तर दिया—"यह ज़िन्दगी का रोग है, ज़िन्दगी के साथ जायगा। मैं मर जाऊँ। मैंने कई दफ़े सोचा मैं कुछ खाकर सो रहूँ। खुदकुशी से डरती हूँ, दोज़ख की आग में जलूँगी!"

"तो फिर!"—नूरहसन ने पूछा।

उसके पैर पकड़कर सआदत ने कहा—"तुम कलमा पढ़कर मुझे ज़िबह करदो! मैं बहिश्त चली जाऊँगी वहीं तुम्हारा इंतजार करूँगी।"

एक लम्बी साँस खींचकर नूरहसन खाट पर लेट गया। वह

आकाश की ओर देख रहा था। रात बीत चुकी थी। सुबह की सफ़ेदी आकाश पर फिर आई थी परन्तु दिन नहीं निकला था। वह उसी की प्रतीक्षा में था। ऊँचे मकानों की छतों पर सूर्य की किरणें फैल जाने पर एक लम्बा साँस लेकर वह उठा। उसकी आँखें पत्थर की तरह स्थिर थीं। उसकी आवाज धीमी परन्तु दृढ़ थी। उसने सआदत की ओर बिना देखे ही कहा—"तुम नहा-धोकर पाक-साफ़ हो जाओ! मैं बाज़ार से होकर आता हूँ!" और वह जीने से उतर गया।

सआदत भी अन्तिम निश्चय कर चुकी थी। उठकर नहाई और ईद के दिन के कपड़े पहने। फिर दीवार के पास जाकर उसने हबीब को पुकारा। उसके स्वर में निर्भयता थी और आँखों में विजय की बावली सी प्रसन्नता।

"प्यारे आओ मिल लो!"—उसने स्वयम हबीब के गले में बाहें डालकर कहा—"घबराना नहीं फिर मिलेंगे हम जाते हैं।"

"कहाँ!"हबीब ने आश्चर्य से पूछा।

"उसी दुनिया में, जहाँ हसद नहीं होता!"–हबीब के सिर को सीने पर ले उसने प्यार किया, चूमा और फिर कहा–"बस सलाम।" वह चली गई। हबीब कुछ देर सोचता रहा फिर घबराकर नीचे गली में दौड़ा गया।

नूरहसन लौट आया। सआदत ने दिवार के पास खाट पर धुली हुई दोहर बिछा दी थी। कुरान मजीद सिरहाने रख लिया और लेट गई। नूरहसन ने जेब से उस्तरा निकाला। वह मुँह से कलमा पाक पढ़ता जाता था और काँपते हुए हाथ से उस्तरे की धार सआदत के

गले पर फेरता जाता था। सम्रादत की आँखें मुँदी थीं।

खून की धार बहती अनुभव कर सम्रादत ने अपनी उँगली तर कर दीवार पर अल्हड़ अक्षरों में लिख दिया—"हबीब!" और दूसरी बाँह नूरहसन के गले में डाल उसका माथा झुका चूम लिया।

ज़ीने में नीचे ज़ोर की भड़भड़ाहट सुनाई दी और फिर धक्के से सांकल उखड़ गई। दूसरे क्षण पुलिस और हबीब सम्रादत की खाट के पास खड़े थे।

सम्रादत ने आँखे खोलकर देखा। पुलिस पूछ रही थी—"खून किसने किया?" नूरहसन हाथ में उस्तरा लिये एक ओर खड़ा हो गया। उसका चेहरा बिलकुल पीला हो रहा था।

सम्रादत ने उँगली से अपनी तरफ़ इशारा किया परन्तु खून से भरा उस्तरा नूरहसन के हाथ में था।

उस ओर इशारा कर पुलिस ने पूछा—"यह उसके हाथ में कैसे है?"

सम्रादत के होंठ हिले परन्तु आवाज़ न निकल सकी। पुलिस ने पूछा—"क्या तुमसे छीन लिया?"

सम्रादत ने आँखें झुकाकर हामी भरी।

दूसरे क्षण वे आँखें बुझ गईं।

ग्यारह

नई दुनियां—

सरीन साहब खीझ रहे थे, माथुर अभी तक नहीं आया। राख-दानी में सिगार की राख झाड़ते हुए मिसेज़ सरीन की ओर देखकर बोले—"सोसाइटी के बिना कलचर आ नहीं सकती। इस आदमी को देखो, वायदा किया था कि ठीक पाँच बजे आयगा और देख लो, साढ़े पाँच बज रहे हैं; अभी तक आपका पता नहीं। मज़ा यह है कि जनाब हम पर तोहमत लगाते हैं कि हम अपना वायदा पूरा नहीं करते।........और बैराम जी वहाँ मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे।"

कुर्सियों के चारों ओर रखे गुलदाउदी के गमलों पर दृष्टिडाल एक डाली से पीला पत्ता झाड़ते हुए मिसेज़ सरीन ने पूछा—"वायदा? कौन है यह तुम्हारा मेहमान?"

"अरे मेहमान क्या!"—सिगार से एक क़श खेंचते हुए साहब ने उत्तर दिया—"है एक मज़दूर लीडर! कुछ लोग हैं जिन्होंने यह नया पेशा बना लिया है। पहले मज़दूरों को भड़का देंगे, फिर उनकी वक़ालत पर अपना निर्वाह चलायेंगे। यह आदमी ज़रा कैंड़े का है।

ख़याल था उसे यहाँ बुलाकर समझाता। समय ख़राब है। इन लोगों का यही इलाज है। दबाने से उल्टे शोर मचता है।"

मिसेज़ सरीन बेबी के लिये स्वेटर बुन रही थीं। बुनाई की एक सिलाई पूरी कर दूसरी आरम्भ करते हुए उन्होंने कहा—"तुम्हारे यहाँ यह झगड़े चलते ही रहते हैं।" फिर बंगले की छत से कटकर आती हुई धूप में लहलहाते हुए फूलों की ओर देखकर वे बोलीं—"तुम्हें तो मिल और क्लब से फ़ुर्सत ही नहीं मिलती। चैटर्जी के यहाँ के फूल तुम देखो तो हैरान रह जाओ! एक दिन चलो कुछ गमले........"

बराम्दे की सीढ़ियों पर आहट पा, अपनी बात छोड़ उन्होंने उस ओर देखा—खद्दर के मैले से कपड़े पहिरे, बगल में कागज़ों का बस्ता दबाये, एक युवक बहरे के साथ-साथ उन्हीं की ओर आ रहा था। उस ओर देख कुर्सीपर लेटे ही लेटे, सिगार थामे हुए हाथ को बढ़ा सरीन साहब बोले—"आइये कामरेड! बहुत देर कर दी।" समीप पड़ी कुर्सी की ओर संकेत कर उन्होंने युवक को बैठने का संकेत किया।

कुर्सी पर बैठ काग़ज़ों का बस्ता नीचे घास पर रखते हुए युवक बोला—"देर तो कुछ हो ही गई थी और कुछ आपके आदमियों ने कर दी। भीतर आने ही नहीं देना चाहते थे। समझाया, साहब ने चाय पीने के लिये बुलाया है, पर उन्हें यक़ीन न आता था।"

"वाह, आप तो इन लोगों के वकील हैं।"—हँसकर सरीन साहब ने उत्तर दिया।

"जी, अपना भला चाहने वालों को बहुत कम लोग पहचानते हैं।"—हँसते हुए युवक ने भी उत्तर दिया।

हाथ की बुनाई भूल मिसेज़ सरीन युवक की ओर देख रही थीं। उनसे आँखें मिलने पर युवक ने विस्मय के स्वर में पूछा—"मिस कक्कड़ आप यहाँ कहाँ ?........"

उसे टोककर सरीन साहब ने कहा—"अब मिसेज़ सरीन !"

मिसेज़ सरीन मुस्करा दीं और पुराने परिचय के ढंग से उन्होंने पूछा—"मिस्टर माथुर आप यहाँ कहाँ ?"

"यों ही ! जीवन का चक्कर !...........शायद अंग्रेज़ी की ट्यूशन रखने की ज़रूरत आपको फिर हो !" माथुर निस्संकोच अट्टहास कर उठा। बातचीत से सरीन साहब को मालूम हुआ, जब मिसेज़ सरीन अभी मिस कक्कड़ थीं और आगरे में मैट्रिक की परीक्षा की तैयारी कर रही थीं, कुन्दनलाल माथुर उस समय बी० ए० का विद्यार्थी था और स्कूल में पढ़ी अंग्रेज़ी की पाठ्य पुस्तकें मिस कक्कड़ को दोहराने उनके यहाँ जाया करता था।

तिपाइयों पर हलकी नीली धारी के मेज़पोश बिछे थे। उसी तरह का चाय का सेट बैरा ने लाकर सजा दिया। पेस्ट्री और फलों के स्टैण्ड दूसरी तिपाई पर रख बैरा अदब से एक ओर खड़ा हो गया। बात आरम्भ करने से पहले साहब ने बैरे को ज़रा दूर हटकर खड़ा होने के लिये संकेत कर दिया और कामरेड को सम्बोधन कर बोले—"कहिये फिर काम कैसे चले ?"

सतर्क हो माथुर ने उत्तर दिया—"सो तो आप चला ही रहे हैं।"

"अरे, आप चलने कहाँ देते हैं ?"

"नहीं, ऐसी तो कोई बात नहीं। आपका अभिप्राय ?"

"देखिये, इसमें पर्दे की कोई बात नहीं। आप मिसेज़ सरीन के पुराने परिचित हैं।"

"आपसे कुछ पर्दा नहीं।"—अपनी कुर्सी पर और अधिक पसरते हुए सरीन साहब बोले—"मज़दूरों के बिना मिल नहीं चल सकती और मिल के बिना यह साढ़े तीन हज़ार मज़दूर कहाँ जाँयगे ? मिल हमें चलानी है तो जैसे हमें समझ में आयगा वैसे ही चलायेंगे। मज़दूरों की कोई उचित शिक़ायत हो, हम दूर न करें तो कहिये। लेकिन यह नहीं हो सकता कि मिल ही उनके हाथ सौंप दी जाय। सिन्डीकेट की बाईस लाख की पूंजी लगी है बाइस लाख की ! इस वर्ष ही साढ़े चार लाख की नई मैशीनरी मैंने मँगवाई है कि हम विदेशी मिलों के मुक़ाबिले काम कर सकें। इस रकम के सूद का ख़याल कीजिये ? और फिर देश में औद्योगिक उन्नति हो कैसे सकेगी यदि हिस्सेदारों को मुनाफ़ा न मिलेगा ? उद्योग के लिये पूंजी कहाँ से आयगी ? आप खुद समझते हैं। मज़दूरों की बात दूसरी है। समझते हैं न ?"

माथुर की दृष्टि प्यालों में चाय छोड़ती हुई मिसेज़ सरीन के हाथों की ओर थी। "जी········"—उसने उत्तर दिया—"लेकिन···········"

"लेकिन नहीं·······"—हाथ बढ़ा माथुर को सुनते जाने के लिये संकेत कर साहब कहते चले गये—"आप सुन लीजिये। साढ़े चार लाख की जो नयी पूंजी लगाई गई है, उसे कुछ करना होगा या नहीं ? उसे लगभग पाँचसौ मज़दूरों का काम करना चाहिये। मैंशिनरी का तो गुण ही यह है कि मनुष्य का काम लोहा करता है और सोसाइटी को लाभ होता है। समझो, हम पाँच सौ मज़दूरों का

काम मैशीन से लेकर दूसरे कारोबार के लिये मज़दूर मुहय्या करते हैं। और देखिये, इस मिल पर जितने कम आदमियों का बोझ होगा, उन्हें अधिक मज़दूरी दी जा सकेगी। समझे.......?"

मिसेज़ सरीन ने दोनों के सामने एक-एक प्याला बढ़ा दिया और आवश्यकतानुसार चीनी के लिये चीनीदानी आगे कर दी।

प्याले में चम्मच से चीनी मिलाते हुए माथुर ने उत्तर दिया—"आपका कहना समझा परन्तु........"

उन्हें और सुन लेने का संकेत करते हुए साहब कहते चले गये—"मज़दूरों और मालिकों के हित एक हैं। उनकी अवस्था सुधारने का प्रयत्न हम लगातार कर रहे हैं। उनके लिये डिस्पेंसरी, उनके बच्चों के लिये स्कूल, खेलने के लिये जगह हम देते हैं। रहने के लिये हवा-दार क्वार्टर बनवा दिये हैं! इन सब कामों के लिये एक इंचार्ज भी हमने रखा है। उसे हम ४०) देते हैं परन्तु वह कुछ ठीक आदमी नहीं यह काम है सेवा का। इस काम के लिये ऐसा आदमी हो जिसमें सेवा भाव हो। तनख़ाह की ऐसी कोई बात नहीं। हम पचास-साठ बल्कि सत्तर-पचहत्तर तक दे सकते हैं। आप कोई ऐसा आदमी बताइये जिसमें सेवा भाव हो, जिस पर मज़दूरों को विश्वास हो! यह काम तो है वास्तव में आप जैसे आदमियों के करने का!"

पेस्ट्री की प्लेट माथुर की ओर बढ़ाकर वे अपना चाय का प्याला पीने लगे। सरीन साहब की बात से माथुर के चेहरे पर हल्की सी मुस्कराहट फिर गई। आरम्भ में "लेकिन........" कहकर जिस उत्साह से वह उनकी बात का उत्तर देने के लिये तैयार हुआ था, वह अब उसे

व्यर्थ जान पड़ा परन्तु समय निभाने के लिये उसने कहा—"आपका फर्माना ठीक है लेकिन सेवा के सम्बन्ध में अलग-अलग विचार हो सकते हैं। ज़रा मुस्कराकर मिसेज़ सरीन की खद्दर की महीन साड़ी की ओर देख उसने कहा—"मिसेज़ सरीन खद्दर की साड़ी पहर देश की सेवा करती हैं और आप मिल चलाकर देश का भला करते हैं।"

चाय की पहली प्याली वे लोग समाप्त कर चुके हैं, यह देख बैरा प्यालियाँ उठा ले जाना चाहता था। मथुर ने बेतक़ुल्लफी से कहा—"नहीं, अभी एक प्याली और लूँगा!"

'अवश्य'—कहकर मिसेज़ सरीन ने पास रखी हुई साफ़ प्यालियों की ट्रे की ओर हाथ बढ़ाया। कुछ झेंपकर माथुर को याद आया—बड़े आदमियों के यहाँ चाय की हर प्याली के लिये नयी प्याली इस्तेमाल की जाती है।

नया सिगार सुलगाते हुए सरीन बोले—"खद्दर का विरोध हम नहीं करते। इस गान्धी-जयन्ती पर हमने खद्दर की पाँच सौ की हुण्डियाँ खरीदी हैं। देश में उद्योग धन्दे नहीं हैं इसलिये बेकारी को रोकने के लिये खद्दर अच्छी चीज़ है।"

"नही साहब"—माथुर ने कहा—"मेरा अभिप्राय भी खद्दर के विरोध से नहीं है। मतलब है सेवा से! मज़दूरों के लिये रात्रि पाठ-शाला खोलकर या उन्हें दवाई बाँटकर भी उनकी सेवा की जा सकती है। दूसरा तरीक़ा है कि वे सहायता के लिये किसी का मुँह न तककर स्वयम मालिक बन जाँय........।"

कुर्सी से उठते हुए, विस्मय से आँखें फाड़कर सरीन साहब ने

कहा—"ओह, सोशलिज़्म, क्या कहते हैं ; हाँ समाजवाद"—माथुर के उत्तर की प्रतीक्षा लिये बिना ही उन्होंने कहा—"हाँ, हाँ, तो वह तो मज़दूरों और मालिकों, दोनों के ही हित को ध्यान में रखकर हो सकता है कि दोनों में किसी तरह झगड़ा न हो। जैसे अहमदाबाद में मज़दूर महाजन सभा काम कर रही है, वैसे ही आपको भी करना चाहिये !.... हाँ, मेरा एक बहुत ज़रूरी अपोइंटमेण्ट साढ़े-पाँच बजे का था। इसीलिये आपसे पाँच बजे आने के लिये अर्ज़ की थी।"

मिसेज़ सरीन को सम्बोधन कर उन्होंने कहा—"आप तो परिचित हैं ही। कामरेड की ख़ातिर अच्छी तरह से हो !" माथुर की ओर देख उन्होंने बीच में ही जाने के लिये बाध्य होने के कारण क्षमा माँगी और धुँआ छोड़ते हुए चल दिये।

कुछ ही क़दम वे गये थे कि लौटकर उन्होंने मिसेज़ सरीन की ओर देखकर पुकारा—"देखना !"

उठकर मिसेज़ सरीन ने बात सुनी। बहुत धीमे स्वर में साहब ने कहा—"इसे समझाने की कोशिश करना। यह नौकरी कर ले तो अच्छा है। सौ-सवा सौ रुपये तक कोई बात नहीं !"

लौटकर माथुर से कुछ और खाने का अनुरोध कर मिसेज़ सरीन बोलीं—"छः बरस बाद देखा आपको ! कहाँ रहे आप ? आगरा आपने कब छोड़ दिया ? कानपुर में आप कब से हैं। हम तो यहाँ दो बरस से हैं। अढ़ाई बरस हुए बी० ए० की परीक्षा मैंने दे दी थी.......", साहब भी तभी विलायत से लौटे थे। हमारा विवाह हो गया। हमारी एक बेबी है, नौ महीने की। बड़ी स्वीट (प्यारा) है। आया ले गई

होगी घुमाने। आयेगी अभी थोड़ी देर में। आप क्या यहीं रहते हैं? कभी मालूम ही न हुआ। हम लोग कहीं जाते-आते भी बहुत कम हैं। कभी हुआ खद्दर भण्डारवाले मुझे पकड़ ले जाते हैं। इन्हें तो मिल और क्लब से फुर्सत ही नहीं मिलती। इनकी जगह पहले एक योरुपियन काम करता था दो हजार पर और मिल को सदा घाटा। इनकी बात यह है कि अपना काम किसी पर नहीं छोड़ते। हिस्सेदारों के लाभ के लिये अपनी तनख़ाह भी पन्द्रह सौ कर दी हैं। मुनाफ़े में तो बात यह है कि जैसा दूसरों का वैसा इनका! मेहनत तो इन्हें करनी पड़ती है। और फिर झगड़े हड़तालों का डर बना ही रहता है।"

एक ओर रखी हुई सिलाइयों को उठाकर बुनाई आरम्भ करते हुए उन्होंने पूछा—"आप यहाँ क्या करते हैं?........पिता जी क्या आगरे में ही हैं?"

"पिता जी का देहान्त हो गया।....माँ वहीं हैं।"—माथुर ने उत्तर दिया—कहने लायक़ तो मैं कुछ नहीं करता, यों ही मज़दूरों में रहता हूँ।"

इस विषय में आगे पूछना उचित है या नहीं, यह ख़याल कर उन्होंने पूछा—"आपकी स्त्री होंगी?"

"नहीं, बस माँ है।"—

"तो फिर उनकी चिन्ता तो आपको होगी?"—

मिसेज़ सरीन के इस सौहार्द से माथुर को छः वर्ष पूर्व का अपना जीवन याद आ गया। जब वृद्ध माता-पिता के साथ घर में रहकर वह अपना भविष्य बनाने का यत्न और चिन्ता किया करता था। उस समय एक ही चिन्ता थी, बड़ी-से-बड़ी परीक्षा पासकर, बड़ी

नौकरी पाकर वह सुख से रह सके। प्रत्येक संध्या को वह दो मील चलकर मिस कक्कड़ को अँग्रेजी की ट्यूशन पढ़ाने कक्कड़ साहब के बंगले पर जाता था। उसे याद हो आया, उस समय मिस कक्कड़ दुबली-पतली लड़की थीं। परिश्रम से पाठ याद करती थीं। वे भी अपने भविष्य की तैयारी कर रही थीं। बी० ए० पास कर लेने के बाद पन्द्रह सौ रुपये मासिक पानेवाला तथा मिल का मालिक पति पाकर उनका जीवन सफल हो गया! और वह स्वयम!········बुज़ुर्गों का ख़्याल है वह अपना जीवन बरबाद कर रहा है। परन्तु उसने भी अपने विचार से एक मार्ग चुन लिया है········उचित समझकर।

पिछला इतिहास पलक मारते में माथुर की स्मृति में फिर गया। मिसेज़ सरीन उत्तर की प्रतीक्षा में थीं। बहुत दिन बाद, पुराने जीवन के परिचित की सहानुभूति ने उसे गहरी स्मृति में उलझा दिया। उसने कहा—"पिता जी का देहान्त हो गया और कुछ इस ढंग से हुआ कि मेरे विचार बदल गये।"

अपनी ग़रीबी के स्मरण से कुछ संकोच अनुभव कर मिसेज़ सरीन की आँखों में देखते हुए उसने कहा—"आपको याद होगा हमारी आर्थिक अवस्था अच्छी न थी। पिता जी स्कूल मास्टरी करते थे। तेइस वर्ष तक उन्होंने नौकरी की परन्तु उनकी तनख़ाह ४०) से अधिक न बढ़ सकी। उस बुढ़ापे में भी वे आपके भाई को उर्दू पढ़ाने के लिये प्रति दिन चार मील का चक्कर लगाते थे कि दस रुपये और कमा सकें। मैं भी इसीलिये आपको ट्यूशन पढ़ाने आता था कि कॉलिज का ख़र्च चल जाये। चाहता था, किसी प्रकार एम० ए० पास कर लूँ।

पास कर लेना कुछ कठिन न था। मुझे शौक़ भी था और वज़ीफ़ा भी मुझे मिलता था।"

मिसेज़ सरीन की पीली कोमल उँगलियाँ बसंती रंग की ऊन पर तेज़ी से चल रही थीं परन्तु उनके कान माथुर की बात की ओर थे। माथुर ने कहा:—

"शक्ति से अधिक परिश्रम करने से पिता बीमार हो गये और बीमारी में दवा न मिल सकने के कारण मर गये।"—मिसेज़ सरीन के चेहरे पर करुणा की छाया फैल गई। माथुर कहता चला गया— "बात बिल्कुल मामूली है। इस देश या संसार में प्रतिदिन ही अनेक ऐसी घटनायें होती ही रहती हैं। हमारा ध्यान उस ओर नहीं जाता। वे मेरे पिता थे, इसलिये वह घटना मुझे चुभ गई। हुआ यह कि कम विश्राम, परिश्रम की अधिकता और ख़ूराक की कमी से पिता जी का रक्त पतला पड़ने लगा। हृदय की बीमारी ज़ोर पकड़ गई। इधर-उधर इलाज कराया। जितने साधन थे, सब कुछ किया। माँ का थोड़ा-बहुत गहना था, वह भी बेच डाला। लेकिन उससे कुछ न बना। डा० दर को आप जानती होंगी? उन्होंने दयाकर फीस न ली और दवाई बताई। सोलह इंजेक्शन लगाने की राय उन्होंने दी। दवाई आगरे में 'डॉब्सन कम्पनी' के यहाँ मिल सकती थी।"—दवाई की कीमत उन्होंने माँगी फ़ी नली २२) कीमत सुनकर मेरी आँखों के सामने अँधेरा छा गया। उस अँधेरे में १६२) मेरी आँखों के सामने चाँदी के गोल-गोल टुकड़ों की तरह नाचने लगे। १६२) का प्रबन्ध मैं कर न सका। पिता के प्राण बचा सकनेवाली

दवाई मौजूद थी परन्तु पैसे न थे। पिता का मन रखने के लिये हक़ीमों के यहाँ से अर्क ला-लाकर उन्हें पिलाया परन्तु मैं जानता था, वे शनैः-शनैः समाप्त हो रहे हैं।"

मिसेज़ सरीन ने बुनाई की सिलाइयाँ एक ओर रख दीं। बटुए से एक रूमाल निकाल मुख से कुछ कहे बिना उन्होंने आँखें पोंछ लीं। माथुर ने कहा—"मुझे अफ़सोस है यह सब सुनाकर मैंने आपको दुखित किया। परन्तु यह हुआ ही और होता है प्रति दिन। इस बात का दुख नहीं कि पिता की मृत्यु हो गई। "पिता" तो सबके मरते हैं परन्तु वे कुछ दिन ज़िन्दा रह सकते थे क्योंकि दवाई मौजूद थी। और देखिये, दवाई 'डॉब्सन कम्पनी' की आलमारी में रखी रही इस प्रतीक्षा में कि किसी का खून पतला पड़े, कोई मरने लगे तो १६२) उन्हें दे। मनुष्य के प्राणों की चिन्ता किसी को नहीं। १६२) की चिन्ता है।"

मिसेज़ सरीन ने खाँसकर एक बेर और आँखें पोंछी। बुनाई की सिलाइयाँ एक ओर रख गाल पर हाथ रख करुण स्वर में उन्होंने कहा—"भगवान उनकी आत्मा को शान्ति दे" और वे तन्मयता से माथुर की बात सुनने लगीं।

"आप इस बात को जाने दीजिये"—माथुर कहता चला गया—"कि मेरे पास या मेरे पिता के पास १६२) नहीं थे। प्रश्न यह है कि पिता जी ने तेइस वर्ष तक स्कूल में लड़कों को पढ़ाया। तेइस वर्ष तक समाज की यह सेवा करने के बाद भी उनका यह अधिकार न हुआ कि बीमारी में जरूरी दवाई उन्हें मिल सके? उस समय

डॉब्सन कम्पनी के प्रति मुझे बहुत घृणा हुई। परन्तु डॉब्सन कम्पनी का ही क्या दोष! दवाइयों का भण्डार उन्होंने बीमारों की प्राण रक्षा के लिये एकत्र नहीं किया; एकत्र किया है, पैसा कमाने के लिये। आपकी मिल करोड़ों गज़ कपड़ा बुनती है। इसलिये नहीं कि नंगे कपड़ा पा सकें बल्कि इसलिये कि आप पैसा कमा सकें!"

एक दीर्घ निश्वास छोड़कर मिसेज़ सरीन ने कहा—"इस संसार में कितनी निर्दयता है?"

माथुर ने पूछा—"निर्दय कौन है?.......उस समय मैंने सोचा, मैं क्यों पढ़ रहा हूँ?.......हाँ मैं आपको पढ़ाने क्यों जाता था? कुछ आपकी भलाई के विचार से नहीं। इसलिये कि आपके यहाँ से मुझे १०) मिल सकते थे। मेरे पड़ोस में बीसियों लड़के-लड़कियाँ थीं जिन्हें पढ़ाया जाना चाहिये था। परन्तु वे दस रुपये नहीं दे सकते थे, इसलिये उन्हें पढ़ाने का खयाल मुझे कभी नहीं आया.......।"

उसे रोककर मिसेज़ सरीन बोलीं—"नहीं जी, दस रुपये क्या होते हैं। आपने मेरे लिये बहुत परिश्रम किया है। मैं आपकी बहुत कृतज्ञ हूँ।"

"सो आपकी दया है—माथुर ने उत्तर दिया—"आप समृद्धि में पली हैं। संकीर्णता आप से दूर रही है। इसलिये आप उदार हैं। परन्तु मैं पढ़ाई किस लिये कर रहा था; इसलिये कि नौकरी कर सकूं। समाज के मनुष्यों के लिये कुछ कर सकने का भाव तो मेरा था नहीं। ऊँची परीक्षा देकर मैं अधिक योग्य बन जाना चाहता था ताकि दूसरों की अपेक्षा मुझे अधिक अच्छी नौकरी मिल सके। मनुष्य

समाज में सब जगह परस्पर यही होड़ और द्वन्द चल रहा है। व्यापार का अर्थ लोगों की आवश्यकता पूरा करना नहीं बल्कि उनकी जेब से पैसा खींचना है। नौकरी का प्रयोजन भी यही है। शिक्षा और पढ़ाई का प्रयोजन है, दूसरों को पीछे हटाकर अपने लिये स्थान बनाने की योग्यता प्राप्त करना!"

सिलाइयाँ उठाकर दुबारा बुनाई शुरू करते हुए सहानुभूति के स्वर में मिसेज़ सरीन ने कहा—"यह दुनिया है ही ऐसी।"

'है तो'—माथुर ने कुर्सी पर उत्साह से आगे खिसकते हुए कहा—"परन्तु इसका अर्थ हो जाता है कि इस दुनिया में सब लोगों के लिये स्थान नहीं है। दुनियां में मनुष्यों की सब आवश्यकताओं को पूरा करने योग्य साधन मौजूद हैं, ऐसे साधन पैदा कर सकने की शक्ति मौजूद है पर उस शक्ति का उपयोग इस काम के लिये नहीं होता। जिन लोगों के हाथ में शक्ति है, वे मनुष्य की इस शक्ति को अपनी शक्ति या पूँजी बढ़ाने के काम में लगाते हैं, जनता के हित में नहीं। जनता परिश्रम करके भी कंगाल है बल्कि उन्हें बेकार बनाकर परिश्रम करने का अधिकार भी उनसे छीन लिया गया है। यह दुनियां स्वयम् अपना सर्वनाश कर रही है।"

माथुर की बात मिसेज़ सरीन की समझ में आई या नहीं, या बुनाई करती हुई वे कुछ और सोच रही थीं परन्तु उसके स्वर की तरलता से द्रवित होकर उन्होंने कहा—"यह दुनिया तो ऐसी ही है। मनुष्य तो भगवान की दया से जीता है परन्तु जीवन में रुपये-पैसे की आवश्यकता होती ही है। इसी कारण आपके पिता जी को इतना कष्ट हुआ। अब

आप कुछ ऐसा काम कर लीजिये कि आमदनी हो ! आपकी माता जी हैं। उन्हें वृद्धावस्था में आराम मिलना चाहिये !"—मुस्कराकर उन्होंने कहा—"और फिर आप विवाह कर लीजिये। साहब आपसे ज़िक्र कर रहे थे न, मज़दूरों के हित के कामों के लिये एक आदमी की आवश्यकता है। मेरा ख़याल है, वे आपको सौ रुपया तक दे देंगे। तनख़ाह कम है परन्तु फ़िलहाल उतना ही सही। क्या ख़याल है आपका ?"

माथुर की मुस्कराहट का अभिप्राय अनुमति समझकर मिसेज़ सरीन भी मुस्करा देना चाहतीं थीं परन्तु माथुर बोल उठा—"आप बुरा न मानिये, देखिये ! मेरे सौ रुपये की नौकरी पा जाने से क्या होगा ? हम जिस दुनिया की बात कह रहे थे, वह तो जहाँ की तहाँ रहेगी ! देखिये, चैन किसको है ? जिनके पास सब कुछ है, उन्हें चैन नहीं। उन्हें भय है, लोग उनसे छीन लेना चाहते हैं। सरीन साहब १५००) और मिल में लाखों के शेयरों के बावजूद फ़िक्र में रहते हैं, साढ़े तीन हज़ार मज़दूरों को वश में कैसे रखा जाय ?........बाज़ार में दूसरी मिलों से कैसे भिड़ा जाय ? ग़रीबी में दिन गुज़ारनेवाले लोग सदा चिन्ता में रहते हैं कि कैसे रोटी का एक टुकड़ा वे झपट सकें ? संकट सबके सामने है। प्रत्येक मनुष्य अपने ही संकट की बात सोचता है। अपना संकट दूसरों के कन्धों पर डाल वह बच जाना चाहता है। दूसरे भी ऐसा ही करना चाहते हैं। हम यह नहीं सोचते कि संकट वास्तव में समाज भर का साझा है ! इसका उपाय व्यक्तिगत रूप से नहीं, सामाजिक रूप से ही हो सकता है, व्यवस्था को बदलने की ज़रूरत है ! सामाजिक प्रयत्न से !"

"परन्तु आप भी तो व्यक्ति हैं........" माथुर को टोककर मिसेज़ सरीन ने कहा।

"हूँ मैं व्यक्ति ही ! परन्तु समझ गया हूँ कि मेरा संकट सामाजिक है और सामाजिक रूप से ही उसका उपाय करना चाहता हूँ। समाज के सबसे बड़े अंग मज़दूर वर्ग को उनकी स्थिति, अधिकार और शक्ति की बात समझाने का यत्न करता हूँ। समाज का यही अंग सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन कर सकता है। सरीन साहब मुझे सौ रुपये की तनख़ाह में ख़रीद लेना चाहते हैं........"

मिसेज़ सरीन का चेहरा लज्जा से गुलाबी होता देख क्षमा याचना के स्वर में उसने कहा—"आपको बुरा मालूम हुआ परन्तु बात सही है। वे अपनी मिल का हित इसी बात में समझते हैं कि मज़दूर उनकी दया पर निर्भर रहें। आप ही बताइये, मनुष्यता के नाते क्या यह अधिक अच्छा नहीं कि सब लोग अपने परिश्रम का पूरा फल पा सकें और आत्म-निर्भर हों ?"

"आप ठीक कह रहे हैं"—मिसेज़ सरीन बुनाई पर से दृष्टि उठाकर बोलीं—"परन्तु मज़दूरों और मालिकों में सद्भाव तो होना ही चाहिये।"

उग्रस्वर में माथुर ने उत्तर दिया—"सद्भाव हो कैसे सकता है ? जब मालिक होने के नाते कोई दूसरों के परिश्रम से लाभ उठायेगा तो उसे दूसरों को दबाकर रखना ही पड़ेगा....! और दबे हुए लोग अवसर मिलने पर ज़रूर लड़ेंगे।" मिसेज सरीन चुप-चाप बुनाई करने लगीं।

कुछ हतप्रतिभ होकर माथुर बोला—"मैं बहुत बक गया। मुझे कुछ अधिक बोलने की आदत हो गई है। अब आज्ञा दीजिये चलता

हूँ ! कुछ अप्रिय बातें कह गया हूँ, ख़्याल न कीजियेगा। साहब से आप शिक़ायत करेंगी तो वे और भी नाराज़ होंगे।' अपना बस्ता उठाकर माथुर चलने लगा। आत्मीयता से उसे और बैठने के लिये कह साहब के सिगारों कीओर संकेत कर उन्होंने पूछा—"पीते हैं आप, लीजिये !"

एक सिगार ले उन्हें धन्यवाद देते हुए माथुर बोला—"आज तो आपने खूब खिला-पिला दिया परन्तु अब आप मुझे पहचान गईं। और कभी तो बुलाइयेगा नहीं, इसीलिये मौक़े से मैंने भी जितना सामने आया, खा लिया। अब चलूँ ; कुछ लोग मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे।"

अनुरोध से मिसेज़ सरीन ने आग्रह किया—"नहीं आप अवश्य आइये। कहाँ रहते हैं आप ?........कभी बुलाना हो तो ?"—उन्होंने पूछा।

"सो सब साहब खूब जानते हैं"—माथुर ने हँसकर उत्तर दिया—"यहीं, मज़दूरों के इस या मुहल्ले में ढूढ़ने पर मिल जाऊँगा।"

माथुर के चले जाने के बाद मिसेज़ सरीन सोचने लगीं—"अद्भुत जीव है। जान-बूझकर संकट और कंगाली झेलकर भी वह खुश है.... एक नई दुनियां के ख़्याल में !"

क्लब से लौटकर साहब ने माथुर की बाबत पूछा। लम्बी-चौड़ी कहानी न कहकर मिसेज़ ने उत्तर दिया—"नहीं, वह नौकरी नहीं करना चाहता।"—फिर कुछ सोचकर वे बोलीं—"शायद समझाने से मान भी जाय ! उसके घर की हालत बहुत ख़राब है।"

साहब ने माथुर के विषय में फिर कोई ज़िक्र नहीं किया परन्तु मिसेज़ को प्रायः उनकी याद आ जाती। सोचतीं,कितना परिवर्तन उसमें

आ गया है ? उस समय कभी ख़याल भी न हो सकता था कि वह ऐसी बातें करने लगेगा। तब वह कितना सीधा और चुप था। उन्हें याद आया, किसी दिन उसके पढ़ाने आने पर माँ कह देतीं, आज शोभा नहीं पढ़ेगी, बाज़ार जाकर फलाँ काम कर आओ ! और वह चुप चाप चला जाता। उस समय उनका स्वास्थ्य सुधारने के लिये पिताजी ने कोठी के लॉन में टेनिस का कोर्ट बनवा दिया था। हुकुम होने पर वह कोर्स की किताब छोड़कर उन्हें टेनिस खिलाने लगता। कभी इच्छा होने पर पिताजी पढ़ाई बन्द कराकर स्वयम टेनिस खेलते रहते। उस समय वह चुपचाप आज्ञाकारी मज़दूर की भाँति था। छरहरा और स्वस्थ अब जैसा ही परन्तु दैन्य और अधीनता का एक भाव उसके व्यवहार और चेहरे पर छाया रहता था।

एक दिन वह उसके साथ टेनिस खेल रही थी कि सहेली कृष्णा आ गई। मज़ाक की तो उसकी आदत ही थी। उसने मज़ाक किया। परन्तु उस मज़ाक की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया। क्योंकि माथुर की स्थिति के कारण, वैसी बात की सम्भावना न थी।

तब वह छोटा आदमी था परन्तु अब छोटेपन के दैन्य और अधीनता की वह छाप उसके चेहरे पर से उड़ गई है। उस समय उसमें और माथुर में वैसा ही अन्तर था जैसा घोड़े और गधे में या कबूतर और तोते में होता है। ऐसा जान पड़ता है उस अन्तर को वह लाँघ गया है। अब तो वह बिलकुल समानता के दावे से बातें करता है। उसे कितना बुरा मालूम हुआ कि सौ रुपये में उसे ख़रीदने का यत्न किया जा रहा है, जैसे उस रोज़ प्रदर्शनी में बेबी के

लिये हमने वह चीनी पिल्ला पौने-तीन सौ में ख़रीदा था।………वह कितने अधिकार और समझदारी से बात करता है ? मालूम होता है, पढ़ता बहुत है। याद कर उसे दुख होता कि सरीन साहब ने माथुर से कितनी उपेक्षा से बातचीत की। साहब का कुर्सी पर पसरा हुआ दोहरा बदन, फूले-फूले कल्ले, धुआँ उड़ाता उन्हें दिखाई देने लगा। माथुर की कुछ न सुनकर वे लगातार अपनी ही सुनाते जाना चाहते थे। जैसे कोई बिगड़ैल बच्चा हो। और माथुर गम्भीरता से मुस्कराकर सुनता जाता है; कह लेने दो इन्हें………।

ज़रा सा मुस्कराकर उसने कहा था—"सौ रुपये में आप मुझे ख़रीद लेना चाहते हैं ? उसके मस्तिष्क में कितनी बातें भरी हुई हैं। यदि वे पूरी हो सकें तो संसार का रूप ही बदल जाय। अपने लिये उसे कुछ नहीं चाहिये। फटे हाल मज़दूरों के घरों में वह रहता है। आगरे में उसकी माँ शायद भूखी मरती होगी ! कहता है, समाज की समस्या को वह अपनी समस्या के रूप में देखता है और सरीन साहब अपनी समस्या को समाज की समस्या के रूप में देखते हैं। साहब की कुर्सी पर पसरी भारी भरकम देह और माथुर का, उड़ने के लिये तत्पर बाज़ का सा, शरीर उसे आमने-सामने दिखाई देने लगे। माथुर के प्रति साहब का व्यवहार उन्हें सम्मानजनक नहीं मालूम हुआ। उन्होंने सोचा साहब को ऐसा नहीं करना चाहिये था।………जैसे, सरीन और माथुर में कुश्ती होने जा रही है। माथुर निर्बल है इसलिये मिसेज़ की सहानुभूति उसकी ओर है। साहब अपने हैं तो क्या………?

माथुर के विषय में फिर कोई चर्चा बहुत दिन तक नहीं हुआ परंतु

समाचार पत्रों में अपनी मिल के मज़दूरों के बारे में जब भी कोई चर्चा वह देखतीं, खद्दर के मैले कपड़े पहरे, बगल में बस्ता दबाये माथुर की मूर्ति उनकी आँखों के सामने खड़ी हो जाती। अख़बारों में चर्चा चल रहा था, भारतभूषण मिल्स ने नई मशीनरी मँगाई है और फालतू मज़दूरों को कुछ समय के लिये हटा देना चाहती है। मिल-मज़दूर मिल्स के इस फैसले के विरुद्ध हड़ताल करने की धमकी दे रहे हैं।

साहब बहुत विक्षिप्त से रहते थे। कोठी पर दूसरे-तीसरे कोई-न-कोई पंचायत होती रहती। कभी दावत होती, कभी चाय। मिसेज़ प्रबन्ध करते-करते थक गईं। भाँति-भाँति के लोग आते, सेठ लोग, साहब लोग और नेता लोग! एक और दिन पिछवाड़े बग़ीचे में एक आदमी के लिये चाय का प्रबन्ध हुआ। मिसेज़ का ख़्याल हुआ माथुर आयेगा। परन्तु आये, गान्धी टोपी और खद्दर के सफ़ेद बुर्राक कपड़े पहरे एक सज्जन। उनसे चुनाव में कांग्रेस के सन्मुख आनेवाली कठिनाई का चर्चा चला और फिर चर्चा हुआ कि मिल्स में हड़ताल हो जाने पर कांग्रेस के प्रधान और कार्य-कारिणी उसमें दखल न दें। सज्जन ने आग्रह किया और साहब ने मजबूरी दिखाई। आख़िर उन्होंने पाँच हज़ार का एक छोटा सा-चेक उन्हें भेंट कर दिया।

इन सब विषयों में मिसेज़ सरीन से कोई राय न ली जाती परन्तु एक आशंका सी वे अनुभव कर रही थीं, जैसे भयंकर आंधी से पूर्व आकाश में उड़नेवाले पक्षी सहम जाते हैं। एक भयंकर उपद्रव की आशंका से मिसेज़ सरीन का हृदय बैठा जा रहा था। इस बीच में मोटर पर आते-जाते उन्होंने माथुर को मज़दूरों की टोलियों के साथ

चक्कर लगाते देखा परन्तु उस समय उससे बात करने का अवसर न था।

× × ×

भारतभूषण मिल्स में सवा दो मास से हड़ताल थी। सरीन साहब की परेशानी की हद न थी। परन्तु मज़दूरों की ज़्यादती के सामने सिर झुकाने को वे तैयार न हुए। मिलों को यदि उन्हें दूसरों की इच्छा के अनुसार चलाना है तो उनकी मिल्कीयत का अर्थ ही क्या? उन्हें न भूख लगती, न नींद आती। दो-एक बिस्कुट खा जिनका एक पेग ले लेते। चेहरे का रंग पीला पड़ गया और आँखों के नीचे काली छाया फैल गई। यह देख मिसेज़ सरीन का कलेजा कटकर रह जाता। वह सोचतीं, भाड़ में जाँय मिलें! अपनी जान अच्छी या मिलें? कभी वे सोचतीं, इन मज़दूरों का ही सिर क्यों फ़िर गया है? मज़दूरों का अर्थ उनकी दृष्टि में था "माथुर।"

साहब भीतर बहुत कम आते। दिन भर टेलीफ़ोन की घण्टी बजा करती। कोठी के नौकर, माली, भंगी बड़ी अजीब-अजीब खबरें लाते। आया की मारफत खबरें 'मेम साहब' तक पहुँचतीं। उन्होंने सुना, हज़ारों मज़दूर लाठियाँ लेकर मिल को घेरे हुए हैं। वे मिल को लूट लेने और आग लगा देने की धमकी दे रहे हैं। पुलिस और फ़ौज़ तोपें बन्दूकें लेकर मिलों पर छावनी डाले हुए है। कोठी और मिल के बीच की सड़क से हज़ारों लाखों आदमियों के ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने का स्वर सुनाई देता, "इनक्लाव ज़िन्दाबाद! मज़दूरों का राज हो!" मिसेज़ सरीन घबरा जातीं, कहीं लोग सचमुच ही कोठी पर न चढ़ आएँ। उन्होंने बेबी को बाहर भेजना बन्द कर दिया। नौकरों को होशियार रहने की

हिदायत कर दी और दो नये गोरखे पहरेदार खुखरी बाँधकर रात में कोठी का चक्कर लगाने लगे।

बाहर आने-जानेवाले नौकरों ने ख़बर दी कि हड़ताली मज़दूर लाल झण्डे लेकर रात-दिन मिल के दरवाज़े पर डटे रहते हैं। किसी को भीतर नहीं जाने देते। कोई मज़दूर काम करने के लिये भीतर जाना चाहता है तो हड़ताली उसकी राह रोक सामने जमीन पर लेट जाते हैं। साहब के हुकुम से पुलिस धरना देनेवालों को पकड़ ले जाती है तो उनकी जगह दूसरे आ लेटते हैं।

जिन मज़दूरों को पुलिस पकड़ ले गई उनके औरत बच्चे साहब के पास आकर रोने लगे। साहब ने सबको बाहर निकलवा दिया। मिसेज़ सरीन गागर में बन्द मछली की तरह तड़पतीं। कई दफ़े उनका मन चाहा कि इस विषय में साहब से बात करें परन्तु साहब के चेहरे की गम्भीरता देख उनका साहस न हुआ।

बेबी की तबीयत कई दिन से ख़राब थी। साहब को उस ओर भी ध्यान देने की फ़ुर्सत न थी। शायद उन्हें इस बात की कुछ खबर ही न थी। मिसेज़ ने कई दफ़े इस विषय में उनसे कहना चाहा परन्तु क्षण भर के लिये मिलने पर शब्द उनके मुख से बाहर ही न निकल सके। फ़ोन पर कैप्टेन वुड को बुलाकर उन्होंने बच्चे को दिखा दिया था और यूरोपियन नर्स उसकी देख-रेख कर रही थी। नर्स ने दो दिन से उन्हें बेबी को दूध न पिलाने दिया था। दूध भर जाने के कारण उनकी तबीयत और अधिक परेशान हो रही थी।

पंसारी की दूकान से कोई चीज़ ले आने के लिये उन्होंने एक नौकर

को भेजा था। जिस काग़ज़ में वह चीज़ आई, उसे पढ़कर मिसेज़ हैरान रह गईं। काग़ज़ पर मोटे अक्षरों में छपा था—"मज़दूर समाचार! नीचे उन्हीं की मिलों की मज़दूर-हड़ताल का चर्चा था। उसमें शिक़ायत थी कि अख़बार हड़ताल की बाबत सच्ची खबरें नहीं छापते। उनके मुँह रुपया भरकर बन्द कर दिये गये हैं। समाचार था :—

"सवा सौ मज़दूर धरना देने के अपराध में जेल जा चुके हैं। सवा दो महीने से मज़दूरी न मिलने के कारण हज़ारों मज़दूरों के बाल बच्चे भूख से तड़प रहे हैं। मिल के डायरेक्टर गिरफ़्तार और हड़ताली मज़दूरों के रोते बिलखते बाल-बच्चों को खींच-खींचकर क्वार्टरों से बाहर निकाल उनमें ताले लगा रहे हैं। इस समय जब आप गरम और नरम लिहाफ़ों में अपने बच्चों को सीने से लगाकर सोते हैं, डेढ़ हज़ार मज़दूर स्त्री-पुरुष, बच्चे पूस की रातों की गहरी ओस में मैदानों में पड़े कुड़कुड़ाया करते हैं। इनमें पचास को निमोनिया हो गया है डेढ़ सौ के क़रीब बुख़ार से मर रहे हैं। यह सब संकट झेलकर भी मज़दूर डटे रहेंगे जबतक की मिल मालिक साढ़े तीन सौ मज़दूरों को मिल से निकालने का हुक्म रद्द नहीं कर देते········। मिल मालिक मज़दूरों के परिश्रम से मुनाफ़ा कमाकर उन्हीं की रोटी छीन लें, यह कभी बर्दाश्त नहीं किया जा सकता········।"

काग़ज़ के बीचोबीच मोटे अक्षरों में लिखा था—"भयंकर षड्यंत्र!" और खबर थी :—"मज़दूरों में फूट डालने में असफल होकर मिल मालिकों ने बाहर से मज़दूर मँगाये हैं जिन्हें छिपाकर रखा गया है। ख़बर मिली है कि १७ नवम्बर की रात को (उस रोज़ १७ नवम्बर ही थी) उन्हें

मोटरों पर बिठाकर मिल मज़दूरों के विरोध के बावजूद काम शुरू करने के लिये मिल में ले जाया जायगा। बाहर से बहकाकर लाये गये मज़दूर हमारे भाई हैं। उनका और हमारा हित एक ही है। उन्हें याद रखना चाहिये कि मालिकों के हाथ की कठपुतली बनकर वे उसी अवस्था में मिल में दाख़िल हो सकेंगे जब वे भारतभूषण मिल्स के मज़दूरों के शरीरों को मोटरों से कुचलते हुए मिल में जाने को तैयार हों। हम लोग अपने जीवन की रोटी के लिये लड़ रहे हैं। क्या मज़दूरों ने अपने परिश्रम से लाखों का मुनाफ़ा मिल-मालिकों को इसी-लिये कमा कर दिया है कि वे नई मैशीनें लाकर मज़दूरों को बेकार कर भूखा मारें? भाइयो, भारतभूषण मिल्स के मज़दूर केवल अपने ही पेट के लिये नहीं बल्कि ग़रीब जनता मात्र के लिये रोटी कमाने के अधिकार के लिये लड़ रहे हैं। इस लड़ाई में हमारी हार का अर्थ है, हमारी मृत्यु और ग़रीब जनता का पूंजीपतियों के मुनाफ़े पर बलिदान हो जाना! हारकर धीरे-धीरे भूखे मरने की अपेक्षा हम मज़दूर अपने अधिकार की रक्षा के लिये लड़ते हुए मरना पसन्द करेंगे। बाहर से आनेवाले मज़दूरों की मोटरें हमारे माँस और खून के कीचड़ को लाँघे बिना मिल के भीतर नहीं जा सकेंगी।………… देश की आज़ादी के नारे लगानेवाली जनता क्या चुपचाप यह सब देखती रहेगी………?

कुन्दनलाल माथुर

मंत्री, मज़दूर सभा।

काग़ज़ को पढ़कर मिसेज़ सरीन के पैर काँपने लगे। माथुर का विद्रूप से मुस्कराता हुआ चेहरा उसकी आँखों के सामने नाचने लगा।

भोलेभाले दिखाई देनेवाले उस चेहरे में कितनी क्रूरता और निर्दयता भरी हुई है। बग़ल में काग़ज़ों का बस्ता दबाये इस आदमी ने कितना बड़ा हत्या काण्ड मचा दिया है। नई दुनिया का उसका ख़्याल कितना भयंकर है ? उसे कैसे समझाया जाय ? उनकी भीगी स्तब्ध आँखों के सामने निमोनिया और बुख़ार से कराहते, ओस में उघाड़े, भीगकर जाड़े में ठिठुरते हज़ारों स्त्री पुरुषों का दृश्य दिखाई देने लगा।.........यह दृश्य धुन्दला होकर उनकी आँखों के सन्मुख दिखाई पड़ने लगा, मनुष्यों के कुचले हुए अंगों और कीमा बने हुए माँस का मैदान मिल के चारों ओर फैला हुआ है। उस दल-दल में घुटने तक धँसे हुए, हाँफ-हाँफ़ कर चलते हुए सरीन साहब अपनी मिल की ओर चले जा रहे हैं।........ उनका सिर घूम गया। सिर को दोनों हाथों से थामकर वे बैठ गईं। अर्ध मूर्छित सी उस अवस्था के दूर होने पर कोठी और मिल के बीच की सड़क से आती हुई नारों की पुकारें महानाश के गर्जन की भाँति उन्हें सुनाई देने लगीं और उनकी संज्ञा फिर लोप हो गई

बग़ल के कमरे से आकर नर्स ने कहा—"बेबी के पेट में दवाई नहीं ठहर रही। ज़रा फ़ोन पर डाक्टर को ख़बर कर दीजिये ! डाक्टर ने नौ बजे खबर देने को कहा था।"

मिसेज़ सरीन को याद आया रात के नौ बज गये हैं। लड़खड़ाती हुई वे बच्चे के कमरे में गईं। वे बच्चे को उठाकर छाती से लगा लेना चाहती थीं परन्तु नर्स ने उन्हें रोक दिया—"ना, बच्चे को छेड़िये नहीं।

बेबस और निराश हो वे फ़ोन करने के लिये ड्राइंग रूम की ओर चलीं। पर्दे को हटाकर उन्होंने दरवाज़े में कदम रखा ही थी कि वे

ठिठककर रह गई। साहब कमरे के बीचोंबीच खड़े थे। उनके चेहरे पर क्रोध और झुँझलाहट छाई हुई थी। दो आदमी उनके दाँये-बाँये खड़े थे। बाँयीं ओर खड़ा आदमी कह रहा था—"हुज़ूर! यह हमसे नहीं हो सकता·······मज़दूरों के ऊपर लारी हम किस तरह चला दें? वो सामने से हटते नहीं। आप पुलिस बुलाइये या उन्हें हटाइये। हम ग़रीब आदमी हैं। हमारे भी बाल बच्चे हैं। हुज़ूर यह हमसे नहीं हो सकता। हुजूर कल से हम लारी लिये खड़े हैं। हमारा नुक़सान हो रहा है। हुजूर हम लखनऊ लौट जाँयगे। हमारी मजदूरी हमें मिल जाय!"

साहब ने गुस्से से पैर पटक कर कहा—"तुम गाड़ी चलाओ! मज़दूर खुद हट जायगा। उसकी परवा तुम क्यों करता है? लारी मिल के भीतर नहीं जायगा तो कुछ नहीं मिलेगा! बोलो, लारी भीतर ले जायगा कि नहीं ले जायगा?"

"नहीं, हुजूर, मज़दूर जबतक सामने से नहीं नहीं हटेंगे हम गाड़ी नहीं बढ़ायेंगे! आदमी नीचे आकर मर जाँयगे तो कौन जुम्मेवार होगा?"—एक कदम पीछे हटते हुए उस आदमी ने उत्तर दिया।

"जिम्मेवार हम हैं!"—ज़ोर से पैर पटककर साहब ने कहा—"हमारा हुकुम है! हम बीस लाख तक अपनी इज़्जत के लिये ख़र्च कर देगा·······क्या समझता है तुम?"

सिर हिलाकर और पीछे हटते हुए उस आदमी ने इनकार किया—"नहीं हुजूर, हम ग़रीब आदमी हैं। छोटे-छोटे हमारे बाल बच्चे हैं। हम किसी की बददुआ नहीं लेगा।"

"निकल जाओ यहाँ से!····जाओ!····आदमियों को उतारकर अपनी

गाड़ी ले जाओ !" साहब ने दरवाज़े की ओर बाँह बढ़ाकर संकेत करते हुए डाँटा। दूसरे आदमी की ओर घूमकर उन्होंने हुकुम दिया—"मिल की लारी लाओ एकदम।........हम खुद जायगा।"

दोनों आदमी चले गये और साहब पिंजरे में बन्द शेर की भाँति कमरे में चक्कर काटने लगे। मिसेज़ सरीन आगे क़दम न उठा सकीं। पीछे लौटर वे दीवार का कोना पकड़ खड़ी हो गईं। कुछ भी उनकी समझ में नहीं आ रहा था। ऐसा जान पड़ता था संसार चक्कर खाकर, ढहाकर गिर पड़ा चाहता है और भयंकर अन्धकार छाता जा रहा है। उनके हृदय की धड़कन उनके मस्तिष्क में गूँज रही थी। कुछ मिनिट बाद भारी लारी के इंजन के गुर्राकर थम जाने का शब्द सुनाई दिया। उसके साथही बरामदे में साहब के जूतों की आहट और एक बार फिर से लारी के इंजन के चलने की थर्राहट सुनाई दी।

मिसेज़ा सरीन के हृदय में एक भयंकर आशंका ने कहा—"साहब चले गये !....उन्हें नहीं जाना चाहिये था। मुझे उन्हें रोक लेना चाहिये था। वे क्या करने जा रहे हैं ?" उनका माथा चकरा गया। समीप के सोफ़ा पर वे गिर सी पड़ीं।

नर्स ने आकर पूछा—"डाक्टर ने बेबी की बाबत क्या कहा ? बेबी परेशान है।"

बेबी का नाम सुनते ही मिसेज़ सरीन के सामने से दृश्य बदल-कर उनका अपना बेबी दिखाई देने लगा। गिरते हुए संसार का बोझ उनके बेबी को कुचले डाल रहा है। परन्तु दूसरे ही क्षण नर्स के स्थान पर उन्हें वह आदमी खड़ा दिखाई देने लगा जो अभी साहब के सामने

मज़दूरों पर मोटर चलाने से इनकार कर रहा था। उनके कानों में उसके शब्द गूँजने लगे—"हुजूर, हमारे छोटे-छोटे बाल-बच्चे हैं, हम किसी की बददुआ नहीं लेंगे....।, और फिर याद आया वह ताजा पढ़ा हुआ मज़दूरों का एलान !

दिखाई देने लगा, साहब पैर पटकते हुए मज़दूरों को स्वयम लारी से कुचल देने के लिये चले जा रहे हैं। हाय उन्हें रोका क्यों नहीं ? हृदय की धड़कन फिर मस्तिष्क में गूँजने लगी। अपने होश क़ायम रखने के लिये सोफ़े के गद्दे को मुट्ठियों में दबाते हुए उन्होंने चिल्लाकर पुकारा—"ब्वॉय ! जल्दी एक दम गाड़ी लाने को बोलो।"

× × ×

मिसेज़ सरीन की मोटर के सामने, तीव्र प्रकाश की फैली हुई तिकोन में मिल के फाटक के सामने भीड़ खड़ी थी। भीड़ के नारे उनके कानों को बहरा किये दे रहे थे। फाटक के सामने आगे-पीछे कई लारियाँ खड़ी थीं। लारियोंकी ओट से दिखाई दे रहा था कि सामने जमीन पर कुछ आदमी लेटे हुए हें। सबसे आगे की लारी के समीप मिल के दूसरे कर्मचारियों के साथ साहब खड़े थे। जो कुछ वे कह रहे थे, सुनाई न दे सकता था परन्तु उनकी बाहों और गर्दन के हिलने से जान पड़ता था कि वे ज़मीन पर लेटे हुए मज़दूरों को सामने से हट जाने के लिये धमका रहे हैं।

इससे पहले कि मिसेज़ सरीन की गाड़ी थम पाये, साहब लपककर सबसे आगे की लारी में ड्राइवर की जगह पर चढ़ गये मिसेज़ सरीन के मोटर से उतरते ही सबसे आगे की लारी जोर से थर्रा उठी। लारी की दैत्य की सी आँखों से निकले तीव्र प्रकाश की किरणों में फाटक और सामने

लेटे हुए मज़दूर चमक उठे। वे आगे बढ़ ही रही थीं कि लारी चल पड़ी। उन्होंने देखा, सामने लेटे हुए मज़दूर चिल्लाते हुए उठकर एक ओर खड़े होने लगे। भीड़ की चिल्लाहट और नारों के बावजूद लारी आगे बढ़ी। मिसेज़ सरीन को दिखाई दिया, अब भी एक आदमी लेटा हुआ है। लारी झटका खाकर उसे कुचलती हुई आगे निकल गई।

"ख़ून! ख़ून! मार डाला! मारो हत्यारे को! माथुरभाई ज़िन्दबाद! सरीन मुर्दाबाद! पूँजीवाद का नाश हो!" की चिल्लाहट मच गई। मिसेज़ सरीन के कुण्ठित कानों में केवल एक शब्द सुनाई दिया—"माथुर भाई!" झुककर उन्होंने देखा, खून से लथपथ शरीर छटपटा रहा है। कुछ मज़दूर चिल्लाते हुए आगे बढ़कर उस शरीर को उठा एक ओर ले जाना चाहते थे। उस समय मिसेज़ सरीन का क्षीण और अधिकार पूर्ण शब्द सुनाई दिया—"इधर लाइये इन्हें! गाड़ी में रखिये!"

"माथुर भाई ज़िन्दबाद!····सरीन मुर्दाबाद!" के नारे लगाते हुए और ईंटें-पत्थर बरसते हुए मज़दूर साहब की लारी के पीछे मिल में धंस गये। मिसेज़ सरीन माथुर को लिए तेज़ी से कोठी पहुँची। नर्स की सहायता से माथुर के कुचले हुए घायल शरीर को पलंग पर लिटाया गया। कैप्टन वुड नर्स का फ़ोन पाकर बेबी को देखने आये थे। आते ही उन्होंने माथुर के अचेत शरीर में इंजेक्शन दिये। अर्ध-चेतना के चिह्न प्रकट होते ही माथुर के मुख से बहुत धीमे स्वर में सुनाई दिया—"मेहनतकश ज़िन्दाबाद····!" मूर्छित होजाने से पहले उसके मस्तिष्क और जिह्वापर जो विचार था, वह प्रकट होगया। डाकटर वुड ने शरीर के फटे अंगों में टाँके भरे और कुचले हुए अंगों में पट्टियाँ बाँधकर खून का बहना

बन्दकर दिया। मिसेज़ सरीन धड़कते हुए हृदय से पलंग के पास खड़ी थीं और नर्स माथुर को सम्भाल रही थी।

मूर्छा दूर होनेपर मिसेज़ सरीन को पहचान माथुर ने पूछा—"क्या हुआ ?" चुप रहने का संकेत हाथ से करते हुए उन्होंने कहा—"चुप रहिये, सब ठीक है।"

माथुर ने फिर प्रश्न किया—"हड़ताल तो नहीं टूटी ?" मिसेज़ सरीन ने फिर चुप रहने का संकेत किया। विकलता से इधर-उधर देखकर, उसने फिर पूछा—"मेरे साथी कहाँ हैं ? आप मुझे क्यों उठा लाईं ?" अपनी इस करुणा के प्रति इस अवस्था में भी, माथुर की विरोध भावना देख उन्हें विरोध भरी दुनिया और माथुर की नई दुनिया का ख़याल आगया। कांपते हुए होठों को दबाकर उन्होंने कहा—"शांत रहिये, भगवान् को याद कीजिये !"

दूर से गोली चलने का धड़-धड़ शब्द सुनाई दिया। चौंककर माथुर ने पूछा—"क्या गोली चलगई ?" भयंकर धड़ाके के शब्द से समीप के कमरे में लेटा हुआ बच्चा चीखकर रोपड़ा। मिसेज़ सरीन जाकर बच्चे को फिर उठालाईं। उसे माथुर के पलंगपर लिटा आंसू भरे कातर स्वर में उन्होंने कहा—"इसे क्षमा कीजिये, आशीर्वाद दीजिये !"

माथुर के नेत्र चमक उठे। धीमे से बोला—"जियो·······नई दुनिया बसाओ ?" मिसेज़ की आँखों से आँसू टपक पड़े ! परन्तु माथुर को हिचकी आती देख, चिम्मच से उसके मुख में जल डालने के लिये वे आगे बढ़ीं।

माथुर के श्वास की गति से नर्स ने उन्हें समझा दिया कि यह अन्तिम श्वास है। आँसूभरी आँखों से उसके मुख में जल की बूंद टपकाते हुए वे क्षमा की याचना कर रही थीं।

"भीतर आने की इजाज़त है ?"—पुन आँख उठाकर उन्होंने पीछे दरवाज़े की ओर देखा। सिरसे टोपी उतारकर एक पुलिस अफ़सर ने झुककर सलाम किया। आँखें उठाकर मिसेज़ सरीन ने प्रश्न किया—"क्यों ?"

कठिनता से सुनाई दे सकनेवाले स्वर में उसने कहा—"बहुत अफ़सोस से दुख समाचार सुनाना पड़ता है.......सरीन साहब........ उनका शरीर लाया गया है।"

"हे भगवान...." ! कहकर मिसेज़ सरीन नर्स की बाहों में गिर पड़ीं।

वो दुनियां !

इतने ज़ोर से झन-झनाहट हुई, मानों कोई जंगी हवाई जहाज़ छत पर आ गिरा हो।

चौंककर कहा—"ऐसे किसी का मन काम में कैसे लग सकता है ?"

रोते हुए बच्चे को उसकी क्षुधा पूर्ति के लिये साड़ी के आँचल के भीतर खींचते हुए श्रीमतीजी बोलीं—"तो दुनियाँ भर के काम तो तुम्हारे लिये बंद नहीं हो जा सकते। मेहरी के हाथ से बर्तन गिर पड़े तो क्या करे ?"

नेत्र मूँद, साँस रोक और कलम फिर से हाथ में तौल मन को एकाग्र करने का यत्न कर रहा था कि खिड़की से मुँह सटाकर गली में खोमचेवाले ने पंचम स्वर में पुकारा—"हलुए गरम ताज़े।"

कलम फिर रह गई। भन्नाकर श्रीमतीजी की ओर देखा। इस पुकार से बच्चा भी विक्षिप्त हो गया था। उसे शान्त करने के लिये घुटना हिलाते हुए उन्होंने मेरे इस अहिंसात्मक मूक-विरोध का उत्तर दिया—"तो गली में वह बेच रहा है; तुम्हें क्या ?"

कलम रख दिया और शान्त भाव से उन्हें प्रत्युत्तर दिया—"क्यों; ताज़े हलुवे से मुझे कुछ सम्बन्ध क्यों नहीं ? मुँह अँधेरे से छः बेर वह चक्कर लगा गया है। क्या ताज़ा हलुवा खानेवाला कोई नहीं ? तुम समझती तो हो नहीं।·······क्या लोग गरम ताज़ा हलुवा पसन्द नहीं करते; जो इस कड़ाके की सर्दी में ठिठुरता हुआ यह ग़रीब ख़ुशामद करता फिरता है कि ताज़ा गरम हलुआ कोई खाले !·······परोपकार की वेदना इसे विकल किये हुए है।"

ताज़े गरम हलुवे के ज़िक्र से श्रीमतीजी के मुख में भी पानी आने लगा था। उठती हुई तृष्णा का दमन करने के लिये वे बोलीं—"ख़ाक ! मूँगफली के तेल में बनाया होगा !"

"बस यही तो हम कहना चाहते थे।"—श्रीमती को चुपकराने के लिये हाथ उठाते हुए अपनी बात समझा—"यानी लोग संखिया खायँ या हलुवा, इससे तो कोई मतलब खोमचे वाले को है नहीं। इन्हें मतलब है कि लोगों की जेब में जो पैसा है, वह इन्हें मिले। नहीं तो इनके बीवी-बच्चे भूखे मर जायँगे। सुनो, यह जीवन का संघर्ष है। यह ग़रीब लोगों को गरम हलुवा खिलाकर अपना जीवन निर्वाह करना चाहता है। जाड़े में गली-गली चिल्लाता फिरता है–हलुवा ताज़ा गरम ! जैसे गरम और ताज़ा हलुवा ऐसा अकिंचन पदार्थ है कि उसे खिलाने के लिये लोगों की मान-मनौती करने की आवश्यकता है। हलुवा तैयार करते समय इसे यह चिन्ता नहीं सताती कि कितने आदमी कलेवा न कर सकने के कारण भूख से व्याकुल होंगे। इसे चिन्ता रहती है कि इतने तेल सूजी और गुड़ के कचरे के उसे कितने पैसे मिल

सकेंगे। वह भूखों को नहीं पैसेवालों को पुकार रहा है। घर में बैठे लोग समझते हैं—साला मूँगफली के तेल में आटा कचर कर ठगने आया है समाज के लिये कोई उपयोगी और आवश्यक काम करने के लिये इसे अवसर नहीं, इसलिये इस ठगी द्वारा जीवन का संघर्ष इसे चलाना पड़ता है····।"

गली में बहुत ज़ोर से बाजा और ढोल बजने से कोहराम मच गया। मेरी बात को अधसुनी छोड़, बच्चे को आँचल के भीतर चिपकाये, श्रीमती जी गली में झाँकने लगीं। उन्होने पुकारा—"देखो तो, यह क्या........?"

रामलीला की सेना की भाँति रंग-बिरंगे कपड़ों में सजे बाजा बजानेवालों के पीछे-पीछे एक तांगे में ग्रामोफ़ोन पर रिकार्ड बजा.... मोरे आँगन में आए आली, मैं चाल चलूँ मतवाली,····और फिर लाउडस्पीकर से आवाज़ आई—"हमारी गोली पाँच मिनट में सिर-दर्द और बुखार को दूर भगाती है। पेट को किसी क़िस्म का नुक़सान नहीं पहुँचाती। यह गोली सब लोग खा सकते हैं।"—यह नाटक कर बाजे का जूलूस गली से बाहर निकल गया।

श्रीमतीजी से चार आँखें होने पर अपनी बात पूरी करने के लिये कहा—"यही देखा; संसार का सिर दर्द दूर करने के लिये यह स्वयम् कितनी सिरदर्दी ले रहे हैं। जितना खर्च सिर दर्द की गोली की ख़बर देने में किया जा रहा है उससे तो शहर भर को बरस भर गोलियाँ खिलाई जा सकती हैं। गोलियाँ तक मुफ्त बाँटते हैं, कितने परोपकारी हैं ये!" हँसने के लिये मेरी खीसें निकल नहीं पाई थीं कि श्रीमतीजी ने भँवे चढाकर कहा—"वाहरे वाह परोपकारी हैं। बड़े जानते हो तुम?"

—"यही" यही तो कह रहा हूँ, कितने छलछन्द दुनिया में रोटी कमाने के लिये करने पड़ते हैं? यह हजारों रुपया बरबाद किया जा रहा है कि दूसरी कम्पनियों और हकीमों की सिर दर्द की गोली छोड़कर लोग इनकी गोली खाना सीखें ताकि इन्हें मुनाफ़ा हो? और सुनो इनकी सिर दर्द की गोली करोड़ों रुपये की न बिकेगी तो विज्ञापन में खर्च किया लाखों रुपया कैसे वसूल होगा? गोली बनानेवाले कारखाने के मालिक काली माई के मन्दिर की सीढ़ियों पर माथा रगड़ेंगे, हे भगवान, संसार भर के सिर दर्द हो। और हमारी गोली बिके........"!

गरजकर श्रीमतीजी ने कहा—"बातें तो बहुत बनाओगे और काग़ज़ कचीएड कर काले करोगे। दुनिया भर को तो मूरख बताते हो और ख़ुद चार पैसा क ाने की लियाक़त है नहीं!"

समाज और संसार का सुधार करने के लिये सिद्धान्त अविष्कार करने के मेरे उत्साह पर ठंडा जल छिड़कती हुई श्रीमतीजी गोद से नीचे खिसकते बच्चे को ऊपर खींचती, रसोई घर की ओर चली गई। तब उदासी से सोचा—घर बैठने की सुविधा नहीं है। कुछ काम से बाहर चल देना होगा। लाला आते ही होंगे क्योंकि उस रोज़ उनके किसी तरह प्राण न छोड़ने पर आज कुछ देने का वायदा कर लिया था!

परन्तु मूरख लाला इतना तो सोचता नहीं कि दूँगा तो कहाँ से? ज़रूरत भर से कुछ बचा सके बिना दिया कहाँ से जा सकता है? बचा सकने की बात दूर है। यहाँ अगर ज़रूरत ही पूरी हो सकती तो लाला से उधार लेने के श्राप में ही क्यों फँसता? और लाला कहेंगे, जैसा कि वे सदा कहते हैं—"भला करने का ज़माना नहीं है बाबू!

तुम्हारी ज़रूरत देखकर उस समय किस कठिनाई से रुपया निकाल तुम्हें दिया और अब तुम यों सता रहे हो।"

लाला ने रुपया कठिनाई से अवश्य निकाला है। अपनी सौ ज़रूरतों को उन्होंने पूरा नहीं किया तब जाकर हज़ार, दो हज़ार रुपया वे जोड़ पाये होंगे कि लोगों को कठिनाई और आवश्यकता पड़ने पर वे रुपये पर एक आना माहवार सूद लेकर, उनकी सहायता कर सकें। और इस ढंग से अब वह रकम बीस-पच्चीस हज़ार पर पहुँच पाई है। अब भी वे उस रुपये को अपनी किसी ज़रूरत को पूरा करने में खर्च न कर आना रुपया माहवार सूद लेकर बढ़ाये चले जा रहे हैं, शायद इसलिये कि लोगों का भला होता रहे। अपने परिश्रम से कमाये धन को अपनी आवश्यकता पूर्ती में ख़र्च न कर उन्होंने उसे बचा रखा है कि दूसर के परिश्रम से कमाया धन उससे समेटा जा सके

श्रीमती जी की बहिन की पहली लड़की की शादी में सौ-डेढ़ सौ रुपया खरच न करने से समाज और परिवार में ऐसी नाक कट जाती कि उसका फिर पनप सकना कठिन था। इसलिये रुपया उधार लेना ही पड़ा और अब उस सौ रुपये और सूद की अदायगी........। लाला के आकर तक़ाज़ा करने के भय से अब घर से भागने के सिवा चारा नहीं। यही कृतज्ञता मैं लाला के प्रति प्रकट कर सकता हूँ। मैं इस दुनिया से बहुत परेशान हूँ। अपने ही घर में मेरे लिये जगह नहीं। एक लम्बी सांस लेकर निकल पड़ता हूँ........।

अपने परिश्रम से कमाकर जो रुपया लाला ने बचाकर रखा था वह उनका परिश्रम था। कठिनाई के समय अपनी आवश्यकता के

लिये उसका उपयोग करने का विचार रहा होगा। परन्तु वह था तो लाला का परिश्रम। मनुष्य के साधारण परिश्रम की तरह उस परिश्रम में भी उत्पादक शक्ति थी। लाला यह परश्रिम दूसरों को उधार देकर उन्हें अधिक पैदावार करने की सुविधा देते हैं और उस पैदावार में से अपने उधार दिये परिश्रम का भाग लेकर संचय करते जाते है। इससे मुझे या किसी दूसरे को सिर दरद क्यों हो ? पर देखता हूँ कि सिर दरद होता है। होता है तो क्यों ?

श्रीमती जी को या उनकी सी बुद्धि के लोगोंको यह बात समझ नहीं आ सकेगी। उनका तो ख़याल है कि मैं बड़बोला और काहिल हूँ और दूसरों की समृद्धि से ईर्षा करता हूँ। आज कल यही बीमारी दुनिया में फैल रही है। नहीं तो परिश्रम करनेवाले को कमाई की कमी नहीं। मुझे यह बात दूसरे ही ढंग से समझ आती है। मैं देखता हूँ लाला और लाला की बिरादरी के देसी-विदेसी लोग अपने संचित परिश्रम यानी पूंजी के ज़ोर पर दूसरों के उपार्जित परिश्रम को मुनाफ़े के रूप में छीनकर जमा करते जाते हैं। इस संचित परिश्रम को न तो मेहनत से कमाई करनेवालों को ख़र्च करने देते हैं न वे स्वयम ही ख़र्च करते हैं कि यह उपार्जित परिश्रम या रुपया दूसरों के हाथ जा उनकी आवश्यकता पूर्ती करे। माया पर बैठे साँप की भाँति वे निष्काम भाव से रुपया या पूंजी बटोरते जाते हैं। किस लिये ? सम्पत्ति की पूजा के लिये!

यही तो इस दुनिया का पूंजीवाद है कि पूंजी की वृद्धि के लिये पूंजी कमाओ। जिन लोगों के हाथ में पर्याप्त पूंजी है वे ही और भी कमा पाते हैं। जिनके हाथ कुछ है नहीं, वे बैठे हाथ मला करते हैं—

पूंजी कमाने के लिये जमा पूंजी को मिल या व्यापार की शक्ल में पैदावार की शक्ति का रूप, दिया जाता है। वह और भी अधिक पैदावार करने लगती है। परन्तु पैदावार के लिये चाहिये ख़रीददार !

ख़रीददार आये कहाँ से ? ख़रीददारी होती है पैसे से जब परिश्रम का फल परिश्रम करने-वाले के हाथ में रहे। यहाँ जो भी पैदावार होती है वह कमानेवाले के हाथ लौट जाती है। पूंजी के देवता जब ख़रीददार नहीं पाते तो पैदावार का दायरा कम करते हैं और बेकारी बढ़ती हैं। मैं भी दैवयोग से देव की इस दुनिया के पूँजी-चक्र से बाहर आ पड़ा हूँ.......और सोचता हूँ, इस दुनियाँ में मेरे लिये मुझ जैसे करोड़ों के लिये स्थान नहीं रहा।

गली में सामने से भले घर की एक बहू चली आ रही है। चादर के साथ शाल मिलाकर उन्होंने अपने मुख और हाथों को ढक रखा है। ताकि कोई जान न सके वे कैसी हैं ; क्या हैं ? बस उनके पति ही घर की चार दिवारी में उनका उपयोग कर सकते हैं। मनमें मैं कल्पना करता हूँ कि वे काली-काली दुबली-पतली होंगी। परन्तु समीप से आँखें फेर एक ओर बचकर यों निकल जाता हूँ कि मुझे मतलब ही नहीं, कोई जा रहीं हैं या नही। ऐसा करना ज़रूरी है। इसी से मैं सच्चरित्र समझा जाता हूँ। यों तो मैं जानता हूँ कि स्त्री क्या कुछ होती है, उसके शरीर का क्या उपयोग हो सकता है। परन्तु यह प्रत्येक को अपनी-अपनी स्त्री से ही करनी चाहिये। अपने मुँह के दातुन को चाहे कोई जिस सिरे से चबाये लेकिन दूसरे की जूठी दातुन..........!

लेकिन हमारे यहाँ दुमंज़िले की सीढ़ियों में रोशनी के लिये एक

झरोखा है। आते जाते, ज़रा साँस लेने के लिये वहाँ ठहर जाता हूँ। उस झरोखे से नीचे दिखाई दे जाता है, एक छोटे से आँगन का एक कोठरी वाला मकान। इस निकम्मे, गन्दे घर में; बस समझ लीजिये, गूदड़ी में लालवाली कहावत है। उनके बाबू जी दफ़्तर, चले जाते हैं तब वे चौके चूल्हे से फुर्सत पाकर साबुन से मुँह धो बाल सँवारती हैं। नई धुली धोती पहनती हैं। माँग निकाल कर सिंदूर भरती हैं और लगाती हैं, हृदय के रक्त की सी लाल-लाल बेंदी। उनकी लंबी-लंबी गोरी बाहें पीलापन लिये सजीव कोमलता हैं। पतली मीनार का सा लम्बा छरहरा बदन। पीला गोरा लंबा सा चेहरा और लंबी-लंबी आँखें ऐसी हैं जिसका चित्र बन सके तो लोग ड्राइंग-रूम में लगायें। शरीर का अनुपात लिपटी धोती में से प्रकट होता रहता है। वह मनुष्य के मन को पागल बना देने की सामर्थ्य रखता है। सब शृङ्गार कर, खाट पर बैठ, ं ंगी-बिरंगी लच्छियों से तकिये का गिलाफ़ काढ़ा करती हैं। मिनिट दो मिनिट खड़े होकर मैं उन्हें देख लेता हूँ। यह बात वे नहीं जानतीं इसलिये उनकी स्वाभाविक अवस्था में उन्हें देख पाता हूँ।

उनके घर का दरवाज़ा कभी नहीं खुलता। महरी भी आती है तो वे लम्बा घूँघट निकाल साँकल खोल परे हट जाती हैं। उनका वह रूप लावण्य उस आँगन में बन्द रहता है। वे ऐसी सतवंती हैं कि कभी घर से बाहर झांकने की इच्छा भी शायद उनके मन में पैदा ही नहीं हुई। स्वयम मनुष्य बनकर संसार में अपने जीवन को अनुभव करने की इच्छा उन्हें कभी नहीं हुई। उनका जीवन है, दफ़्तर में तीस रुपये पानेवाले बाबू जी की इच्छा और आवश्यकता पूर्ति के लिये। वे

ही उनकी दुनियां हैं। जैसा उनका रूप है, उसे देख पाने से हज़ारों के नेत्रों की तृप्ति हो सकती है परन्तु ऐसा क्यों हो ? स्त्री को देखकर मनमें तृप्ति होना भी तो उसका एक उपयोग है। स्त्री का उपयोग उसके एक मात्रा मालिक के अतिरिक्त कोई करे तो यह अनाचार है........।

यह बात केवल एक ही मानव रूप नारी के लिये नहीं। शायद आधी दुनिया की यही बात है । यह आधी दुनिया पेट की रोटी और तन के कपड़े के लिये क्या नहीं सहती ? या इनका मन ही ऐसा बुझ गया है कि मूक ग़ुलामी को अपना परम धर्म और परम सम्मान समझे बैठी हैं। इनके मालिक बाबू जी का मूल्य मनुष्यों की मण्डी में अधिक नहीं है। जैसे-तैसे कान दाबकर वे परिश्रम के ख़रीददार के यहाँ अपनी मज़दूरी बेचकर एक रुपल्ली रोज़ पाते हैं। इस रुपल्ली से संसार भर की आवश्यकता और आनन्द उन्हें प्राप्त करना है। अपने परिमित सामर्थ्य से जो कूड़ा- कचरा भोजन के रूप में अपने शरीर में वे भर पाते हैं, जीवन की शक्ति के रूप में वह उबल पड़ता है। उस उबाल को शांत करने के प्रयत्न में वे अपने आपको भूल जाते हैं।

ठीक उसी समय जब कड़वे तेल से गन्धाती फटी रजाई में, वे बेबस नारी शरीर को निचोड़ आत्मविस्मृत हो जाते हैं पूंजी के प्रभु इन जैसे मनुष्य-पशु-के परिश्रम के बल पर हज़ार बत्ती की रोशनी में, नन्दन कानन की बोतलों से मुक्त सुगन्ध के बादलों में कल्पना के समान सूक्ष्मवस्त्रों में लिपटी कामिनी रत्न की सुवास और स्पर्ष मात्र से तृप्ति अनुभव कर रहे होते हैं। मछली मेंढक की तरह सौ अण्डे देकर दूसरे का पेट भरने के लिये चारा तैयार करना उनका काम नहीं........।

…………और तब मुझे ख़याल आ जाता है उन श्रीमती जी का! वे बड़े आदमी हैं और उन्हें शौक़ है कुछ और बड़ा बन सकने का! उनके यहाँ महफिल जमती है। जीवन की नितान्त आवश्यक बातों के लिये वहाँ गुंजाइश नहीं। वहाँ आटा दाल के भाव का चर्चा नहीं होता। चर्चा होता है—बेटी डेविस, ग्रेटा गार्बो, लीला चिटनिस और पालमूनी की नाट्य कला का! बड़े-बड़े बँगलों की सजावट के ढंग का! मोतियों के दस्तबन्द और हीरे के लॉकेट का! वहाँ लोग बढ़िया सूट और कीमती अचकन पहनकर आते हैं और बैठकर रुपये-डेढ़-रुपए का पान सिगरेट उड़ा देते हैं।

समाज के मामूली आदमियों की निन्दा और चर्चा का उन्हें भय नहीं। साड़ी के आँचल से वे सिर नहीं ढकतीं बल्कि ज़रीदार बार्डर गले की परिक्रमा कर नीचे चला जाता है, उनके कोमल गालों के गेहुँआँ रङ्ग को शोख़ कर देने के लिये। अपनी बड़ी-बड़ी आँखों के सफ़ेद कोयों में काली पुतलियों को नचाकर वे मुस्करा देती हैं। दर्ज़ी कौशल से उनके लिये ब्लाउज़ सीता है कि प्रकृति का दिया शारीरिक वैभव उभर आये! जब वे बिना आस्तीन का ब्लाउज़ पहनती हैं तब उनके कन्धों की गौलाई और बाहों के उज्ज्वल गेहुआँ रङ्ग का और जब वे आस्तीनदार ब्लाउज़ पहनती है तब फिट आस्तीन में बाँहों की गुलाइयों का ध्यान उन्हें बना रहता है। अपने चारों ओर बैठे सज्जनों की आँखों में अपने व्यक्तित्व की क़द्र भाँपकर उनकी आँखों में सरूर छा जाता है। बिना झिझके वे कह देती हैं, स्वयम अपने सन्तोष के लिये सौन्दर्य को बढ़ाने का यत्न वे करती हैं।

नख-शिख की जाँच पड़ताल करने से उनके सौन्दर्य का राज़ कहीं नहीं मिलता। फिर भी सौन्दर्य का एक आभा-चक्र उन्हें घेरे रहता है। सन्तान गढ़ने की कठोर क्रिया को वे टाल जाती हैं ताकि अधिक दिन तक काठियावाड़ी घोड़ी की तरह सचेत बनी रह सकें। चटपटी बात कह सकने के कारण उनकी महफिल में अपनी क़द्र हो सकती है परन्तु घर लौटने पर प्रत्येक प्रसव के बाद परिमाण में बढ़ती हुई अपनी श्रीमती की आँखों में हमारी कोई क़द्र नहीं। वहाँ काव्य और कला की चुटकियों से काम नहीं चलता। वहाँ सदा रोटी कपड़े की ही बात होती है। पर्याप्त मात्रा में उन्हें न पासकने के दुख का रोना रोया जाता है। और इस काम में अयोग्य ठहरने के कारण मेरी कलात्मकला अपमानित की जाती है।

····और हमारी श्रीमतीजी किसी भूल-चूक को क्षमा करने के लिये तैयार नहीं। निर्दय, कठोर, कर्मफलदाता की भाँति वे प्रत्येक भूल-चूक को स्थूल रूप देकर पेश करती चली जाती हैं। कठिन जीवन संघर्ष के इस ज़माने में मेरी कमाई के स्वल्प आधार पर निर्भर करनेवाले पैदा किये चली जाती हैं। जिस सन्तान की कामना से हमारे पूर्वज तपस्या किया करते थे, उस सन्तान का आगमन मेरे लिये महाचिन्ता का विषय बनता जाता है। भरी हुई रेलगाड़ी में चढ़े आनेवाले मुसाफ़िर का जैसे आदर नहीं होता, उसी प्रकार दुनिया में उनके लिये स्थान न होते हुए भी ये सन्तान धँसे चले जाते हैं।

मैं देखता हूँ विज्ञान द्वारा मनुष्य के मस्तिष्क की पहुँच और उसका सामर्थ्य बढ़ता चला जा रहा है परन्तु ठीक उसी हिसाब से यह

दुनिया सिकुड़ती चली जा रही है। मनुष्य के लिये रहने का स्थान और उसके लिये जीवन निर्वाह के अवसर घटते चले जाते हैं। मुझ जैसे व्याकुल होकर देखते हैं कि सब प्रकार से परिश्रम करने के लिये तत्पर रहने पर भी परिश्रम करने का अवसर नहीं मिलता। और मिलता है तो इस शर्त पर कि अपने परिश्रम के फल का बड़ा भाग उसके चरणों में सौंप दें जो परिश्रम करने का अवसर हमें दे सकते हैं। और मैं ही अकेला व्याकुल नहीं। बड़े से बड़े सामर्थ्यवान धनी भी कहते हैं कि ज़माना ख़राब है, बाज़ार नहीं, रोज़गार नहीं, मुनाफ़ा नहीं। चलती-फिरती क़ब्रों की इस दुनिया में यह सब मौक़ा हो तो कहाँ से ? परिश्रम करके दाम के रूप में उसका फल पाने का जब अवसर नहीं तो किस तरह दूसरों के रोज़गार पनपाने के लिये हम बाज़ार बन जायँ ? इस दुनिया में संतुष्ट और सुखी है कौन ?····इस दुनिया से किसी न किसी क़िस्म की शिकायत सभी को है।

आध्यात्म कहता है, इस दुनिया की यंत्रणा से बचने का उपाय है कि दुनिया को भ्रम समझ इससे आँख फेर लो। यदि जीवित रहना है तो उसे भ्रम समझकर उसके प्रति ईमानदारी कैसे निभाई जायगी ? जीवन के संघर्ष में पराजय स्वीकार कर आत्मारूप में अहं को कैसे बलवान बनाया जा सकेगा ? और यदि मैं ऐसा करने का यत्न करूँ भी, जीवन के सत्य को माया भ्रम के आवरण में ढँककर इस संसार से मुक्त हो भाग जाने में ही अपनी सफलता समझ लूँ तो इससे 'मनुष्य' का कल्याण किस प्रकार हो सकेगा ? भगवान ने कितने परिश्रम और कितनी साध से इस संसार को बनाया होगा और मैं इसे निरा भ्रम समझकर ठुकरा

दूँ ! महाज्ञानी संसार के दुख को भ्रम बताते आये हैं परन्तु इससे मनुष्य का दुख तो तनिक भी दूर नहीं हो पाया। संसार को दुखमय समझ उसे भूल, उससे मुक्ति पाने की चेष्टा करना व्यक्तिगत उपाय है। मैं यदि वैराग्य को अफ़ीम खाकर इस दुनिया से मुक्त भी हो जाऊँ तो शेष संसार तो मेरे साथ हीं समाप्त हो नहीं जायगा ? और यदि फिर से जन्म लेकर इसी दुनिया में आना पड़ा·······?

जैसे उस फुटपाथ पर गधा पड़ा रहता है, उसके मालिक धोबी ने उसे बेकार समझकर छोड़ दिया है, उसी प्रकार भगवान इस संसार से निराश हो चुके हैं। उस गधे के शरीर में कीड़े पड़ गये हैं और उसका शरीर उन कीड़ों के उपयोग के लिये हो गया है। उसी तरह इस समाज संसार में भी कीड़े पड़ गये हैं। यह कीड़े अपना शरीर मोटा करने के लिये समाज को खाये जा रहे हैं। समाज का रक्त है, उसका समाज का परिश्रम ! समाज में किये जानेवाले परिश्रम से ही समाज का काम चलता है—उसका निर्वाह होता है। पेट भरने, शरीर ढँकने की तथा दूसरी आवश्यकतायें पूरी होती हैं। वैसे ही जैसे कि शरीर में रक्त से सब अङ्ग पुष्ट होते हैं। परन्तु शरीर में कीड़े पड़ जाने पर वे रक्त को दूषित कर शरीर की व्यवस्था बिगाड़ देते हैं।

समाज का रक्त रुपये का रूप धर सब काम चलाता है। समाज के शरीर में कीड़े पड़ गये हैं। यह कीड़े मुनाफ़ा खाते हैं, समाज के रक्त को मुनाफ़े के रूप में अपने तोंद में भरते चले जाते हैं और समाज का शरीर रक्तहीन होकर निश्चेष्ट होता जाता है। बेरोज़गारी और बेकारी से उसके अङ्ग हिल नहीं पाते। अङ्गों के हिल न पाने से शरीर बेजान

हुआ जा रहा है। शरीर के मुनाफ़ाख़ोर कीड़े रक्त को समेट रहे हैं। यदि शरीर जीवित रहना चहता है तो इन कीड़ों से उसे मुक्ति दिलानी होगी।

यह सब सोचने के बाद जब श्रीमती जी के शब्दों के कोड़ों की मार से पीठ चिल्ला उठती है तो मैं अपना और परिवार का पेट पालने की बात सोचने लगता हूँ। कैसे किसी तरीक़े से रोज़गार करूँ! यानी कहीं से सस्ता माल ख़रीद लूँ·······यानी जितना मूल्य परिश्रम करके माल तैयार करनेवालों को मिलना चाहिये उससे कम दूँ और मँहगा बेचूँ। यानी माल तैयार करने में जितनी लागत का परिश्रम लगा है उससे अधिक मूल्य ले लूँ। ऐसा कर पाऊँ तो जीवन मज़े में कटे और मेरी ही जैसी हालत में रहनेवाले लोग, जो मुझे अकिंचन समझ घृणा की दृष्टि से देखते है, मेरा आदर करने लगें। और वे करेंगे क्यों न! उस समय रुपये के रूप में कितनी अपार शक्ति मेरे हाथ में होगी·······!

संसार के बुद्धिमानों का उपदेश है—अपनी निबेड़ तू, तुझे ग़ैरों की क्या पड़ी! ग़ैर की बला को अपने सिर सहेड़ लेना कोई बुद्धिमानी नहीं। सभी सफल बुद्धिमान व्यक्ति ऐसा ही करते हैं। परन्तु जब यह दिखाई देता है कि इस दुनिया की मुसीबत मेरी अकेली निर्बल बाहों के बल से दूर नहीं हो सकती तो ग़ैरों की सहायता की बात कैसे न सोचूँ?

इस दुनिया में सभी ओर भय और आशंका की धड़कन मुझे दिखाई देती है। सुख और संतोष के साधन जिनके पास मौजूद हैं वे भी तो इस दुनिया से परेशान हैं और इससे अच्छी एक दुनिया की कल्पना में संतोष पाते हैं। तीर्थ स्थान में दो लाख रुपये की धर्मशाला बनवाकर स्वर्ग में अपना स्थान रिजर्व करा लेना सहल उपाय है। इस

उद्देश्य से भूखे भिखमंगों को भोजन भी कराया जाता है और जाड़ा आने पर उन्हें सौ दो सौ कम्बल बाँटे जाते हैं। इस दुनिया में कौशल और चातुर्य से दूसरों के परिश्रम का परिणाम पैसा ऐंठकर और फिर उन्हें दान देकर उस दुनिया का प्रबन्ध किया जाता है।

मनुष्य से मनुष्य को शत्रुता है। इसलिये मनुष्य की लूट खसोट की जाती है और भगवान से डरना होता है। इस दुनिया में जिन सुखों के लिये जी तरसता रहता है, उन्हें उस दुनिया में पाने के लिये भगवान के नाम पर, या भगवान की सिफ़ारिश से उस दुनिया के मूल्य पर भगवान को भेंट किया जाता है।

यह अच्छी चतुराई है। इससे दो लाभ होते हैं। एक तो इस दुनिया से अच्छी उस दुनिया में अपना अधिकार हो जाता है दूसरे इस दुनिया में सुख संतोष के साधनों के स्वामी लोगों का जीवन सुख से कट पाता है यानी भूख और कंगाली के कारण जीवन से उपराम होकर जीवन के साधनों के लिये लड़ मरने का अवसर ग़रीबों के लिये नहीं आ पाता। बड़े आदमी यह दुनिया कमाकर वो दुनिया ख़रीद लेने की चेष्टा करते हैं और ग़रीब आदमी इस दुनिया से हाथ धोकर उस दुनिया की आशा करते हैं। समझ नहीं पाता, इन दोनों में सफल कौन होगा ?

....और हमारे लाला वास्तव में चतुर और दूरदर्शी हैं। उनकी व्यापारिक बुद्धि केवल इस दुनियां तक ही सीमित नहीं। उस दुनिया को भी नफ़े के तरीक़े पर कमाते हैं। भगवान की समदृष्टि में सब एक समान हैं। उनके दरबार में मनुष्यों और दूसरे जीवों में भेद नहीं।

पुण्य का लेखा करते समय वहाँ यह नहीं लिखा जायगा कि मनुष्य को तृप्त किया या हाथी को। इसलिये लाला एक छटाँक आटे में आधी छटाँक चीनी मिलाकर प्रातः भ्रमण के समय चींटियों के भिटे पर बिखराकर हज़ारों नहीं लाखों जीवों को तृप्त कराने का पुण्य भगवान के रजिस्टर में दर्ज करा लेते हैं। और फिर करुणा विगलित स्वर में वे कहते हैं—"इन बेचारे असहाय जीवों का संसार में कौन है? आदमी को तो रामजी ने दो हाथ-पैर दिये हैं।"

बेचारे असहाय जीवों और असहाय बनाये गये मनुष्यों पर दया करने से इस संसार का भला हो सकता है। धर्म, महात्मा और सरकार सब इस बात का उपदेश देते हैं। असहाय, साधन-हीन और बेचारा होकर भी अभी तक स्वयं अपना निर्वाह कर सकने के सामर्थ्य का अभिमान मुझ में बाक़ी है। इसलिये जो लोग "वो दुनियां" कमाने की आशा से मुझ पर कृपा और दया करना चाहते हैं उनके प्रति एक प्रकार की असाधु-भावना मेरे हृदय में जाग उठती है। दूसरे की इच्छा से उसके उपयोग में आनेवाला स्थूल देह पशु बन जाने की अपेक्षा मैं आत्म-निर्णय का अधिकार लिये असंतुष्ट मनुष्य ही बना रहना चाहता हूँ।

मैं स्वयम् इस दुनिया से असंतुष्ट हूँ और उस दुनिया का ख़्वाब देखता हूँ जिसमें मनुष्य को आत्म-निर्णय का अवसर और अधिकार हो। परन्तु ऐसा कर सकने के लिये समाज के रक्त को मुनाफ़ा बनाकर चूस लेनेवाले कीड़ों को दूर करना ही होगा। यह कीड़े समाज के शरीर को टाइफ़ाइड, तपेदिक, कोढ़ या पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, तानाशाही से ग्रस्त किये हैं। परन्तु व्यक्तिगत रूप से मुक्ति चाहनेवाले मेरे उस दुनिया के स्वप्न को केवल स्वप्न बताकर उड़ा देते हैं।